टेसू के फूल

किशोर साहू

प्रकाशक

किताब महल • इलाहाबाद

पिताजी

को

जिन्होंने मुझे साहित्य से रुचि दिलाई
तथा लिखने को प्रोत्साहित किया

प्रस्तावना

इस संग्रह की बहुतसी कहानिया हिंदी की बहुतसी प्रख्यात पत्रिकाओं में समय समय पर निकलती रही है। और अक्सर उन प्रख्यात पत्रिकाओं के लायक़ सम्पादकों ने मेरी उन कहानियो के साथ दिल खोल कर बलात्कार किया है। नतीजा उसका यह हुआ कि उनकी पत्रिकाओं मे मेरी कहानियां छप जाने पर मेरी नहीं रह सकी। मेरी 'कुदाली' के साथ तो एक सम्पादक महाशय ने इतनी ज़्यादती की कि छपने पर उसका पहचानना तक मुश्किल हो गया था। तभी मे मैने ठान ली कि कहानी मै इन लायक सम्पादकों को एक ही शर्त पर दिया करूँगा और वह यह कि वे मेरी कहानियों को ज्यो-की-त्यों छापा करे। इस संग्रह मे छपी हुई सारी कहानियां अपने असली रूप मे है।

इस संग्रह की सभी कहानिया केवल कल्पना की ही उपज नही। गोकि 'टेसू के फूल,' 'गुलशन,' 'इम्तिहान' वग़ैरा मेरे मस्तिष्क मे बरसो चक्कर काटती रही है, बाकी की बहुतसी कहानिया किसी घटना या पात्र को देख कर ही मुझे सूझी है। लाहौर में मालरोड पर तांगे मे बैठी हुई एक युवती को देख कर मुझे 'सिराज का सहारनपुर' सूझी थी। अपने कमरे के रौशनदान मे पड़े हुए चिड़िया के घोसले को देख कर मैने 'घोंसला' कहानी लिखी थी। 'कुदाली' और 'अंतिम भेंट' सच्ची घटनाओ के आधार पर बनी है। कुछ कहानियो के मुझे शीर्षक पहले मिले है जिनपर ढांचा बाद मे बनाया गया है।

अब तक मेरे पास साहित्य समालोचको की ऐसी कई चिट्ठियां आ चुकी हैं जिनमें या तो उन्होंने मेरी कहानियो मे पाई गई खूबिया दिखलाते हुए मेरी प्रशंसा के पुल बांध दिए है या मेरी खड़ी ज़बान तथा रोज़मर्रा

के हमारे जीवन का नग्न चित्र खींचने की मेरी अपनी शैली से उलझते हुए उन्होंने मेरी कहानियों को अश्लील क़रार दिया है। ख़ैर, मुझे इसकी क़तई परवाह नहीं कि मेरी कहानी पढ़कर समालोचक क्या कहता है। मैं लिखता वही हूँ जो लिखने को जी करता है। और मुझे अपनी इन कहानियों पर नाज़ है।

किशोर साहू

दूसरे संस्करण पर

टेसू के फूल का पहला संस्करण छपते ही बिक चुका था पर लड़ाई की असुविधाओं के कारण, मुझे अफसोस है, दूसरा संस्करण अब तक न निकल सका था, सो आज निकल रहा है।

पाठकों को मेरा यह कहानी-संग्रह खूब पसंद आया है। समालोचकों ने भी सच्चे दिल से इन कहानियों की दाद देकर यह साबित कर दिया कि कला और मौलिकता के पारखी हिंदी संसार में भी हैं। नए, पुराने कई लेखकों को जब मैंने अपनी शैली, अपने कथानक और अपने पात्रों को छिपे छिपे चुराने की कोशिश करते देखा तो मुझे ताज्जुब तो हुआ ही पर संतोष भी हुआ।

पुष्पा, उस्ताद की क़सम, घोंसला और **कुदाली** पाठकों को विशेष जंचीं और विभिन्न भाषाओं की विभिन्न पत्रिकाओं में ये निरंतर छपती रहीं। संग्रह की पहली कहानी, **टेसू के फूल** पर कुछ लोगों को एतराज है। यह कहानी उनकी नजर में अश्लील रही! कला में अश्लीलता जैसी कोई चीज़ नहीं हुआ करती; और जैसे कि ऑस्कर वॉइल्ड ने कहीं कहा है : कला में रचना का निर्माण अच्छी या बुरी तरह होना तो संभव है पर उसका अश्लील होना नहीं। फिर भी जो लोग **टेसू के फूल** कहानी में अश्लीलता देखते हैं, उन पर मुझे तरस आता है।

बम्बई
अक्टूबर, १९४६

किशोर साहू

अनुक्रम

टेसू के फूल

गले में टँगी हुई दूरबीन आंखों से लगा कर, सुधा ने महानदी के परले तट पर नज़र दौड़ाई।

"हां, पिताजी" वह बोली; "मुकुंदी ठीक कहता है। धुआं उठ तो रहा है।"

पंडित गया प्रसाद ने अपने उड़िया रसोइये, मुकुंदी की ओर देखा।

"क्योंरे, तू तो कहता था कि घाट से चीचवा दो मील है; फिर बस्ती किनारे पर ही कैसे आ गई ?"

डांड़ चलाते हुए एक बूढ़े मल्लाह ने, उड़िया और ग़लत हिंदी की हास्यास्पद खिचड़ी में, मुकुंदी से कुछ कहा। शहर के बाबुओं के साथ रहते रहते मुकुंदी को हिंदी बहुत-कुछ आ गई थी। इसी लिए सुधा ने पटना से उसे साथ ले लिया था। सुधा के इस बिहार, उड़ीसा के भ्रमण में वह बड़ा काम आया था। डी० लिट० की डिग्री के लिए सुधा गांव गांव घूम कर हिंदुस्तानी ग्राम्यगीतों का संग्रह कर रही थी। अक्सर मुकुंदी ही उड़िया गानों का हिंदी में भाषांतर कर दिया करता था।

"नई, मालीक, ये बस्ती नई है," मुकुंदी ने कहा। "लकड़ा काटने का कारखाना है। कोई बाबुलोक रहता है हियां। ये बुड्ढा बोला के गांव हुवां से दो मील है।"

"हां, ठीक है, पिताजी," सुधा ने दूरबीन से देखते हुए कहा; "यह गांव नहीं, कारख़ाना ही मालूम होता है। धुआं पाइप में से निकल रहा है। पास ही बड़ा भारी टीन का छप्पर है और बाज़ू में शायद लकड़ी की मयालें पड़ी हुई हैं। एक बैल भी बँधा है पेड़ से. . . .लाल रंग का।"

"अगर हो सका तो एक, दो दिन यहीं रुक कर ज़रा आराम कर लेंगे,"

पंडितजी ने आंखों पर अख़बार से छांह कर, किनारे पर देखते हुए कहा। "भई, लली, मैं तो तंग आ गया तेरे ग्राम्यगीतों के मारे। काफी तो जमा कर लिए; और कितना घूमेगी ?"

लगातार पंद्रह दिनों से उड़ीसा के जंगली गांवों में महानदी के किनारे घूमते घूमते सुधा भी तंग आ गई थी। सारा दिन मार्च महीने की धूप में जगह जगह भटकते फिरना, एक स्त्री के लिए बड़ा दुष्कर कार्य था। पंडितजी की निगाह में तो इलाहाबाद युनिव्हरसिटी उनकी इकलौती लाड़ली लली से डॉक्टोरेट की क़ीमत अनुचित तौर पर ज़्यादा मांग रही थी।

"बस, पिताजी, इधर से होते हुए पुरी निकल चलेंगे और वहां से फिर वापस इलाहाबाद. . . .साल के अख़ीर तक अगर संग्रह निकल जाय तो बड़ी बात होगी !"

पश्चिम को खिसकते हुए सूर्य की सुनहली धूप में मस्तूल की रस्सियां थामे, सुधा जाग्रत स्वप्न-सा देखने लगी। उसकी महत्त्वाकांक्षा बस अब पूरी होने को ही थी। डॉक्टोरेट मिलते ही उसे कहीं पर प्रोफ़ेसरी अवश्य मिल जाएगी। आजन्म अविवाहित रह कर वह अपना जीवन भारतीय अबलाओं की शिक्षा में लगा देगी। उन्हें वह स्त्री-स्वातंत्र्य का पाठ पढ़ाएगी। पाश्चात्य सभ्यता के छींटे दे दे कर भारतीय महिलाओं की मूर्च्छा दूर करना उसका मुख्य कर्तव्य होगा।

छप छप डांड़ चलाते हुए मल्लाह नाव खेए चले जा रहे थे। मुकुंदी, अपने मालिकों की आंख बचा कर, पाल की आड़ में दुबका, बीड़ी पी रहा था। महानदी की मील भर चौड़ी गोद में खेलती हुई पुर्वैया, पंडितजी के हाथों से आठ दिन पुराना 'अमृत बाज़ार पत्रिका'—जिसके विज्ञापन तक उन्हें याद हो गए थे—नोच लेने की चेष्टा कर रही थी। आख़िर तंग आकर पंडितजी ने अख़बार मोड़-माड़ कर जेब में ठूँस लिया—फिर कभी समय काटने के काम आएगा—और सिर जो ऊपर उठाया

तो देखा कि किनारा क़रीब है। किनारे पर कुछ लोग खड़े हैं। बग़ैर चश्मे के उन्हें साफ़ नहीं दीख रहा है। मगर फक फक की आवाज़ काफ़ी स्पष्ट सुनाई दे रही है। अवश्य ही कोई कारख़ाना मालूम होता है।

"देख तो, लली, कौन लोग हैं किनारे पर," पंडितजी ने कहा।

सुधा विश्वविद्यालय की क्लास में लेक्चर दे रही थी। चौंक कर उसने अपने पिताजी की ओर देखा—इस तरह मानो उन्हें वह पहचानती ही न हो।

"अरे, क्या सोच रही है!" पंडितजी हँसते हुए बोले। "तूने देखा, किनारे पर कुछ लोग मालूम होते हैं ?"

सुधा को चट ख़याल आया कि वह क्लास में नहीं, नाव पर है। फक फक की आवाज़ उसके कानों में भी ज़ोरों से आने लगी। उसने देखा पोंगे से धुआं फिका जा रहा है, रेत पर तीन आदमी खड़े नाव के किनारे लगने की राह देख रहे हैं।

"हां, पिताजी; कारख़ाने वाले ही कोई मालूम होते हैं," उसने कहा और सम्हल कर बैठ गई।

कमर भर पानी में कूद, मल्लाहों ने डगमगाती हुई नाव खींचकर किनारे पर लगाई। रेत पर खड़े हुए मनुष्यों में दो तो वहीं के उड़िया मज़दूर जान पड़े, और तीसरा, ख़ाकी हाफ़ पैंट, क़मीज़ पहने, हाथ में टोप लटकाए, कोई सभ्य पुरुष था, जिसने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। फिर वह अपने आदमियों को नाव से सामान निकालने का आदेश देकर, आगे बढ़, पंडितजी को अपने हाथ का सहारा दे, नीचे उतारने लगा।

"मेरा नाम कल्यानचंद्र पुजारी है," उसने विनयपूर्वक कहा। "दूर से मैं समझा कि जंगल साहब आ रहे हैं। दुनिया के इस हिस्से में तो उनके सिवा कभी कोई नहीं आता।"

पंडितजी ने हाथ मिलाया। "बड़ी खुशी हुई आप को जान कर,

मिस्टर पुजारी। मैं पंडित गयाप्रसाद हूँ और ये मेरी बेटी, सुधा।"

कल्यान ने सुधा को फिर से नमस्कार किया और उसे भी हाथ का सहारा दे नीचे उतारा। नाव से नीचे उतारते समय, साड़ी कुछ ऊपर सरक जाने से, सुधा की गोरी सुडौल पिंडलियां कल्यान की आंखों ने अनायास ही देख लीं।

परदेश में किसी को अपनी भाषा बोलते सुन, सुधा को हार्दिक प्रसन्नता हुई।

"यह कारखाना आप ही का है ?" उसने पूछा।

"मेरा ही समझिए; वैसे है तो मेरे दोस्त का," कल्यान ने कहा।

"मिस्टर—मिस्टर—पुजारी, मैं आपसे मिलकर सच में बहुत खुश हुआ हूँ। एक अरसे बाद आज अपने किसी आदमी से मुलाक़ात हुई है ! अपने लोग इधर और रहते हैं क्या ?" पंडितजी ने पूछा।

"जी नहीं, मैं और मेरे दोस्त, बस दो ही हैं—और हां, हमारा नौकर, जीवन। बाक़ी तो यहां सब संथालों की बस्ती है। बड़े नेक और बहादुर लोग होते हैं।"

वे सब लोग कारखाने की तरफ़ चलने लगे।

* * *

"माफ़ कीजिएगा," कल्यान ने कहा, "क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप लोग इस तरफ़ कैसे आ निकले ?"

"लली डी० लिट० के लिए हिंदुस्तानी ग्राम्य गीतों पर थेसिस लिख रही है। उसी सिलसिले में गीतों का संग्रह करने निकली है," पंडितजी ने कहा, फिर मुस्कुरा कर बोले: "अपने साथ साथ इस बूढ़े को भी खींच लाई।"

"घर में अकेले बैठे रहने से यहां की सैर क्या बुरी है, मिस्टर पुजारी ?"

"जी नहीं, आप ने अच्छा किया जो साथ ले आईं। यहां की आबोहवा बड़ी मुवाफ़िक पाई जाती है।"

सुधा को इस तरह बिना किसी झिझक के बातचीत करते देख, कल्यान को कुछ ताज्जुब हुआ। उसने अनुभव किया कि इतनी आकर्षक आकृति उसने इससे पहले कभी किसी स्त्री की नहीं देखी थी। सुधा का बड़ा भारी जूड़ा ढीला होकर कंधे पर लटक आया था और उसके सहज सौंदर्य को दोबाला कर रहा था....कितना अच्छा हो अगर कुछ दिन ये लोग यहीं टिक जाएँ!

सहसा हिनहिनाहट सुन, सुधा ने मुड़ कर देखा। दूर नाव पर से जिसे वह बैल समझी हुई थी, खूँट से बँधा हुआ, वह घोड़ा निकला। पंडितजी सुधा की ओर देख कर ज़रा मुस्कुराए, फिर कल्यान से बोले: "आप को सवारी का शौक़ है जान पड़ता है ?"

"जी हां, हम लोगों को घोड़ों का बड़ा शौक़ है। फिर, घोड़े के बिना यहां के जंगलों में काम भी तो नहीं चलता," कल्यान ने कहा; और कुछ रह कर सुझाया: "मैं समझता हूँ आज आप लोग यहीं ठहर जाएँ तो अच्छा हो। इतनी शाम को कहां जाइएगा।"

"बड़ी कृपा आपकी," पंडितजी बोले। "हम लोग भी यही सोच रहे थे कि अगर आप को कोई विशेष असुविधा न हो तो दो-एक दिन यहीं रह कर ज़रा थकान दूर कर लें। वैसे तो चीचवा जाने का विचार था, पर—"

"नहीं, साहब, इतनी शाम को अब बस्ती में जाने की क्या ज़रूरत। यहां आप को कोई तकलीफ़ न होगी, जब तक जी चाहे रहिए.... आइए, ज़रा मिल दिखाऊँ, फिर घर चलेंगे।"

बांस के फाटक से अंदर जाते हुए सुधा ने देखा फाटक के ऊपर लकड़ी के तख़्ते पर लिखा हुआ था: 'दी महानदी सॉ मिल्स, रेल्वे कॉन्ट्रैक्टर्स ऐंड सप्लायर्स, चीचवा।'

"यह भी क्या चीचवा ही कहलाता है ?" उसने पूछा।

"जी हां, यह चीचवा का ही टोला है। बस्ती वैसे क़रीब डेढ़ मील दूर है। कल ले चलेंगे आप को वहां।"

मिल के मज़दूरों ने नवागंतुकों को हाथ जोड़ जोड़ कर अभिवादन किया—शायद यह तहज़ीब उन्हें कल्यान की सिखाई हुई थी। कल्यान उन लोगों को एक एक कर मिल की सब चीज़ें दिखाने लगा। चालीस हॉर्स-पॉवर के क्रॉसले क्रूड-ऑएल इंजन के ज़ोर पर हर तरफ़ छर्र छर्र आरे चल रहे थे। बड़ी बड़ी मयालें चीरी जा रही थीं। लकड़ी का भूसा जिधर उधर फैला हुआ था। वातावरण में आर्द्र भसे की भीनी गंध मिली हुई थी। कल्यान अपने मेहमानों को मशीनों की विशेषताएँ और साल, सागौन, शीशम आदि स्थानीय लकड़ियों के अलग अलग उपयोग समझाने लगा। जंगल से तोड़ी हुई लाख का ढेर भी पास ही के एक छप्पर में लगा था। जंगलों और मशीनों के बारे मे कल्यान का ज्ञान और उसकी व्यापारिक दक्षता देख कर सुधा बहुत प्रभावित हुई। वह जानती थी कि वापस घर पहुँचने पर, जब कभी वह अपने इस भ्रमण का ख़याल करेगी, ख़ाकी हाफ़पैंट, क़मीज़ पहने, महानदी सॉ मिल्स का यह संचालक उसकी आंखो के आगे सबसे पहले प्रकट हुआ करेगा। मनुष्य मनुष्य में भी कितना अंतर होता है! कहां तो वह—डॉक्टर मिस सुधा प्रसाद, एम० ए०, डी० लिट्०—संयुक्त प्रांत के किसी विश्वविद्यालय में अपनी छात्राओं को विद्या-दान करती होगी, और कहां यह युवक महानदी के जंगलों में लकड़ा फाड़ता होगा!

"घर से इतनी दूर जंगलों में आप का जी नही घबराता, मिस्टर पुजारी?" सुधा ने पूछा।

कल्यान मुस्कुराया। "आदमी जहां रहने लगता है, वहीं उसका घर हो जाता है," उसने कहा। "यह तो आदत की बात है।"

"आप कहां के रहने वाले है, मिस्टर पुजारी?" पंडितजी ने पूछा।

"वतन तो मेरा बांकीपुर पटना है; मगर वैसे मैं सारी उम्र इलाहाबाद में रहा हूँ।"

"इलाहाबाद?" सुधा ने पूछा।

"जी।"

"हम लोग भी वहीं रहते हैं," पंडितजी ने कहा। "और आप के मित्र? क्या नाम बताया उनका आप ने?"

"हां, आप के दोस्त नहीं दिखाई दिए?" सुधा बोली।

"जी, वे घर पर हैं। कारखाने पर वे बहुत कम आते हैं। वे भी इलाहाबाद ही के हैं।"

"कितनी विचित्र बात! सब इलाहाबाद ही के निकले!"

"जी हां, दुनिया बहुत छोटी है, पंडितजी। चलिए, अब चलें; मिल भी अब बंद होगी। कितना बजा है आप की घड़ी में मिस—प्रसाद?"

सुधा ने रिस्टवॉच देखी। "सवा छः," उसने कहा।

दीवार पर टँगी हुई घड़ी देख कर कल्यान हँसने लगा। "लीजिए, हमारी घड़ी पचीस मिनट पीछे है। सच पूछिए तो हमें घड़ी की कोई ज़रूरत ही नहीं पड़ती—सलामत रहें हमारे सूरज और तारे।" फिर, अपने हाथों से घड़ी ठीक कर, उसने अपने नौकर, जीवन, को आवाज़ दी, जो फ़ौरन हाज़िर हुआ। उसे मिल के बारे में सारा काम समझा कर और सामान 'माधवी कुंज' भेजने का आदेश दे, मेहमानों को साथ लिए, वह बाहर निकला जहां मुकुंदी और एक उड़िया नौकर घोड़े को लिए खड़े थे। वे लोग सब कारखाने के दक्षिण की ओर चल पड़े।

सूर्य अस्त हो चुका था, पर इतना प्रकाश अभी बाक़ी था कि बड़े बड़े साल-वक्षों के बीच से जाती हुई टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी उन्हें दिखलाई दे।

"जंगल तो बड़ा घना है, मिस्टर पुजारी। यहां जानवरों का डर नहीं?" सुधा ने पूछा।

"जानवर हैं तो, मगर इधर नहीं। ज़रा अंदर की तरफ़ मिलेंगे। अभी पिछले जाड़ों में ही तो रोहित ने एक शेर मारा था।"

"कौन रोहित?" सुधा ने पूछा।

"मेरे दोस्त। बड़े अच्छे शिकारी हैं। अभी तक हम लोग तीन शेर मार चुके हैं—चार साल के अंदर।"

लगभग तीन फ़र्लांग चलने के बाद, सुधा को दूर टीले पर एक छोटा-सा घर दिखाई पड़ा। पास पहुँचने पर उसने देखा घर के आस-पास बड़े-बड़े पेड़ लगे हुए हैं; सामने बांस के कठघरे के अंदर छोटा-सा बाग़ है, जिसमें भांति भांति के फल, फूल लगे हुए हैं, जिनकी पहचान संध्या के उस धुँधले प्रकाश में वह न कर सकी; पास ही दो हिरन घास चर रहे हैं; ऊपर, पेड़ों में, कहीं मोर बोल रहा है। ऐसा रमणीय स्थान देख कर सुधा को लगा मानो वह, आज से हज़ार वर्ष पहले, किसी आश्रम के उपवन में विहार कर रही हो। न जाने क्यों, पर उसे जान पड़ा कि वह इस स्थान से चिरपरिचित है।

"माधवी फूली है शायद ?" पंडित गया प्रसाद ने पूछा।

"जी हां, हमारे घर का नाम 'माधवी कुंज' है, पंडितजी। रोहित को फूलों का बड़ा शौक़ है। यह सारा बाग़ उसी का लगाया हुआ है।"

फाटक की आवाज़ सुन कर घर के भीतर से छोटे क़द का एक बूढ़ा संथाल बाहर आया और झुक कर सब को प्रणाम कर खड़ा हो गया। कल्यान ने उससे कहा कि मेहमानों के साथ आए हुए नौकर को वह अपनी कोठरी पर ले जाय और उसके खाने-पीने का इंतज़ाम करे। सब नौकर बाग़ में से होकर मकान के पीछे की ओर चले गए।

"बड़ी ही भली जगह है!" सुधा ने बरामदे में प्रवेश करते हुए कहा।

कल्यान ने बैठने के लिए उन्हें कुर्सियां दीं। "माफ़ कीजिएगा, हमारे पास फ़र्नीचर वग़ैरा कोई ख़ास है नहीं। बस यही दो-एक टूटी-फूटी कुर्सियां हैं। हम लोग तो यहां बिलकुल सादा ढंग पर रहते हैं।"

"आप इसकी फ़िक्र न कीजिए, मिस्टर पुजारी। हम लोग बड़े मज़े में हैं," सुधा ने बैठते हुए कहा।

"कितनी ठंडी हवा चल रही है !" पंडितजी बोले। "जी चाहता है यहां से कभी न जाएँ।"

कल्यान हँसने लगा। "तो आप को जाने के लिए कौन कहता है," उसने कहा। "शौक़ से रहिए। घर आप का है....पर यहां के जंगलों में मिस प्रसाद को डॉक्टोरेट नहीं मिल सकती।"

सुधा और पंडितजी भी हँस पड़े।

इतने में कारख़ाने के दो उड़िया मज़दूर सामान लिए आ पहुँचे और अंदर रख गए।

"आप लोग नहाइएगा ? पानी निकलवाऊँ ?" कल्यान ने पूछा।

"जी हां, ज़रूर। बग़ैर नहाए थकावट दूर नहीं होगी," पंडितजी ने उत्तर दिया।

सुधा ने सूटकेस खोल कर पंडितजी के कपड़े निकाल दिए और कल्यान उन्हें गुस्लख़ाने तक पहुँचा आया।

"आइए, मिस सुधा," उसने कहा, "आप को घर दिखाऊँ।"

* * *

घर बिलकुल निराले ढंग का था। दीवारें पत्थर, मिट्टी और कहीं कहीं लकड़ी की थीं। बीच के कमरे में ज़मीन पर बड़ी भारी दरी बिछी थी। उस पर सफ़ेद ग़िलाफ़ वाला मोटा गद्दा, कुछ गावतकिये और कुछ किताबें पड़ी थीं। दाहिने बाजू की दीवार पर शेर का चमड़ा टँगा था और दूसरी दीवारों पर नंदलाल बोस और मजुमदार के तीन, चार चित्र रेशम की लम्बी लम्बी डोरियों से लटक रहे थे। कोने में, जंगली भैंसे के सींगों से, एक बंदूक़ टँगी थी। बाजू का कमरा शायद सोने के लिए था। यहां पर दो पलँग बिछे थे, जिनके नीचे कुछ संदूक़ें पड़ी थीं। एक तिपाई पर पानी की सुराही और कांसे का गिलास रखा हुआ था। पास ही, बिना वॉर्निश किए हुए फ़ोल्डिंग टेबल पर, लिखने-पढ़ने का कुछ सामान था, और फ़र्श पर ढेर से लिखे हुए काग़ज़ात पड़े थे। तीसरे

कमरे को कल्यान का ऑफ़िस कह सकते हैं। हिंदुस्तान का फटा हुआ नक़्शा, पुराना-सा एक पोर्टेबल टाईपराइटर और आलमारियों में फ़ाइलों का ढेर इसकी विशेष सामग्री थी। इससे सटी हुई कोठरी में कुछ फ़ालतू सामान था। मगर पश्चिम वाला कमरा एक अजीब चीज़ था। फ़र्श पर क़ीमती परंतु पुराना मख़मली क़ालीन बिछा था, जिस पर बहुत से फूल धरे हुए थे। बाज़ू में ख़ूबसूरत-सा टेबल-लैंप जल रहा था। काग़-ज़ात यहां भी बिखर रहे थे। दीवारों से सटी हुई आलमारियों में हिंदी और अंग्रेज़ी की लगभग हज़ार पुस्तकें तितरबितर रखी थीं। खूँटी से एक चूड़ीदार पाजामा लटक रहा था। खिड़कियों में फूलों से लदी हुई लताएँ झूल रही थीं। और कोने में गर्द से भरी एक वीणा टिकी हुई थी।

"वीणा आप बजाते हैं ?" सुधा ने उत्सुकता से पूछा और उसे उठा कर देखने लगी।

"जी नहीं, यह रोहित की है; कभी उसे इसका बड़ा शौक़ था।"

सुधा के मन ने कहा, इस वीणा के पीछे कोई रहस्य अवश्य है। "फिर शौक़ जाता क्यों रहा ?" उसने पूछा।

"अँह, लहरी आदमी जो ठहरा। फिर उसके कोई एक शौक़ थोड़े ही है।"

सुधा ने वीणा पर की गर्द फूँक कर उड़ाई और उसे वापस रखती हुई बोली: "बड़ा अच्छा बाजा है।"

"जी हां; आप को भी शायद इसका शौक़ जान पड़ता है ?"

"यों ही, थोड़ा-सा।"

इसके बाद कल्यान और सुधा पीछे की छपरी, गुस्लख़ाना, रसोई-घर, नौकरों की कोठरियां, अस्तबल आदि होते हुए सामने के बरामदे में आ बैठे।

"आप इलाहाबाद कब से नहीं गए, मिस्टर पुजारी ?" सुधा ने पूछा।

"चार साल हुए गया था—रोहित के पास।"

"आप के दोस्त शायद लेखक हैं ?"

"कवि।"

"कौन कवि है ?" गीला तौलिया कंधे पर डाले, बाहर निकलते हुए पंडितजी ने पूछा।

"मिस्टर पुजारी के दोस्त," सुधा ने बतलाया।

"हां, भाई, आप के दोस्त से अभी तक मुलाक़ात नहीं हुई। घर पर नहीं हैं क्या ?"

"शायद नहाने गया होगा नदी पर। इतने में बस आता ही होगा," कल्यान ने कहा।

"अच्छा लिखते हैं ?" सुधा ने पूछा।

"बहुत अच्छा। इतनी बड़ी हस्ती आज हमारे हिंदी साहित्य में तो दूसरी नहीं देखने में आती। जीनियस है। आप लोग उससे मिल कर बहुत खुश होंगे।"

"क्या नाम बताया आप ने ?" पंडितजी ने कहा।

"रोहित। रोहित वर्मा।"

"ओहो ! वही तो नहीं जिन्होंने 'मौन संगीत' लिखी है ?" सुधा बोली।

"जी हां, वही। पढ़ी है आप ने वह किताब ?"

"वह तो मेरी ख़ास किताबों में से है," सुधा ने कहा। "आज कल वह एम० ए० के कोर्स में प्रिस्क्राइब्ड भी है। उसके बाद फिर शायद मिस्टर वर्मा ने और कोई किताब नहीं लिखी ?"

"ढेर-सी लिखी हैं; पर अभी उन्हें छपवाई नहीं। इन दिनों वह एक महाकाव्य की रचना कर रहा है।"

"अच्छा ! . . . .सुना है, कुछ दिन म्योर कॉलेज में वे प्रोफ़ेसर भी थे ?" सुधा ने पूछा।

"जी हां।"

"फिर क्यों छोड़ दिया?"

कल्यान मुस्कुराया। "हिंदी साहित्य को एक कवि की ज़रूरत थी," उसने कहा।

सुधा को लगा असली भेद उससे छिपाया जा रहा है। इसी समय बाहर से सीटी की एक मधुर तान उसके कानों में पड़ी। उसने साश्चर्य कल्यान की ओर देखा।

"रोहित आ रहा है," कल्यान ने सूचित किया।

सीटी बजाता हुआ, बदन पर सिर्फ़ एक गीली धोती लपेटे, अंधकार में से रोहित प्रकट हुआ। गोरा-चिट्टा बदन; बड़ी बड़ी आंखें; लम्बी ऊँची नाक; पतले सटे हुए होंठ। कल्यान की तरह इसमें भी एक विचित्र आकर्षण था। उसकी नंगी छाती और भुजाओं पर पानी की बड़ी-बड़ी बूंदें चिपकी हुई थी, जो बरामदे में टँगे हुए लालटेन की रौशनी में ऐसी प्रतीत हुई मानो किसी ने उसके शरीर भर मोती टांक दिए हों। उसके विशाल माथे पर बिखरे हुए लम्बे लम्बे बालों से बूँद बूँद पानी चू रहा था।

अचानक नई सूरतों को बरामदे में देख, रोहित कुछ ठिठका। कल्यान ने उसका उनसे परिचय कराया और बतलाने लगा कि शाम को अकस्मात् उनसे किस तरह मुलाक़ात हो गई।

अपने अर्ध नंगे शरीर को लिए, बिना किसी संकोच के, रोहित ने नमस्कार किया।

"बड़ी खुशी हुई आप से मिलकर," पंडितजी बोले। "अभी आप ही की तारीफ़ हो रही थी।"

"ऐसी तो कोई ग़लती मैंने नहीं की," रोहित ने भावरहित चेहरे से कहा।

सब लोग हँस पड़े। फिर कल्यान ने अपने दोस्त को बतलाया कि

सुधा डॉक्टोरेट की थेसिस के लिए ग्राम्य गीतों का संग्रह करने निकली है, और उसकी 'मौन संगीत' भी वह पढ़ चुकी है ।

"जी हां," सुधा ने कहा, "मुझे आपकी वह किताब बहुत पसंद है—यहां तक कि मैं उसे अपने साथ यहां भी लाई हूँ । आपकी कविताओं में चित्रण की सचाई और अनुभूति की तीव्रता तो बस कमाल करती है ! मगर अब तो यहां आप की दूसरी रचनाएँ भी देखना नसीब होंगी ।"

'मौन संगीत' के रचयिता को सुधा से अपनी प्रशंसा सुन किंचित् मात्र भी आनंद नहीं हुआ । 'चित्रण की सचाई और अनुभूति की तीव्रता'....ओह ! रानीजी तो उसकी कविता समझने का दम भरती हैं ! अब तो मेंडकियों को भी जुकाम होने लगा !

"मैं आप को सलाह नहीं दूँगा कि आप अपना समय नष्ट करें," उसने कहा ।

"अच्छा, अब तुम अंदर जा कर कपड़े-वपड़े बदलो," कल्यान मुस्कुराता हुआ बोला, "वरन। तुम्हारे इस हुलिया को देख कर—"

"ओहो ! मैं तो भूल ही गया था कि—" रोहित ने सुधा की ओर देख कर व्यंगात्मक ढंग पर कहा, "कि मैं एक सिव्हिलाइज़्ड लेडी के सामने खड़ा हूँ । जंगलों में रहते रहते शहरों की तहज़ीब कुछ भूल-सी गई है । भई, माफ़ कीजिएगा— क्या कहूँ आप को ? कैसे सम्बोधित करूँ ? 'सुधा देवी' या 'मिस सुधा' ?"

सुधा मुस्कुराई । "जैसे जी में आए," उसने कहा ।

"तो 'सुधा देवी' कहूँगा....नहीं, 'मिस सुधा' ही अच्छा है । हाई हील्ड शूज़ के साथ 'मिस' ही खूब जँचता है । क्यों साहब ?"

पंडितजी ठहाका मारकर हँस पड़े । "भई, लली, बात तो सच है," उन्होंने कहा ।

रोहित ने सिर को झटका दिया और बालों से छींटे उड़ाता हुआ अंदर चला गया ।

रोहित के व्यवहार से सुधा को आघात पहुँचा देख, कल्यान ने कहा : "बुरा न मानिएगा, मिस सुधा; उसकी आदत ही है कुछ ऊलजलूल बोल देने की।"

"हमारा यहां आना शायद मिस्टर वर्मा को ठीक नहीं लगा," सुधा बोली।

"जी नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। बड़ा लहरी आदमी है। उसे समझने में आप को वक़्त लगेगा. . . .जाइए, अब आप नहाने जाइए।"

* * *

सुधा हर रोज़ कल्यान के साथ बैलगाड़ी पर सवार हो, चीचवा लोमची, बींझा आदि आसपास के गांवों में घूम घूम ग्राम्यगीत जुटाने लगी। सुधा ने देखा 'माधवी कुंज' में, वहां की वस्तुओं में, वहां के लोगों में, वहां के वातावरण में कोई अलौकिक आकर्षण था। सर्वत्र शांति छाई हुई थी। जिधर-उधर कविता बिखरी पड़ी थी। शहरों का—आधुनिक सभ्य शहरों का— कृत्रिम, स्वार्थमय जीवन, वहां की जल्दबाज़ी, वहां का संघर्ष, वहाँ की हाय हाय महानदी के जंगलों में स्थित इस 'माधवी कुंज' के अंदर-बाहर लेशमात्र को भी नही झलकती थी।

पंडितजी भी सुबह-शाम रोहित के साथ बैठ, साहित्यिक तथा दार्शनिक वार्तालाप में अपनी थकान दूर करने लगे : दोपहर को, जब रोहित पास ही बहती हुई नदी के किनारे जा, घनी झाड़ियों से घिरे वट-वृक्ष की ठंडी छांह में बैठ कर, अपने महाकाव्य की रचना में खो जाता, तब, पंडितजी 'माधवी कुंज' के बरामदे में पड़ी हुई कुर्सियों पर टांग फैला कर, थोड़ी देर आराम कर लेते। उनका बाक़ी समय बाग़ की मरम्मत और कारखाने के दो-एक चक्करों में बड़ी आसानी से गुज़र जाता। कभी कभी हिरनों को अपने हाथों से हरी दूब खिलाते खिलाते, या बाग़ के पौधों की सूखी, गली पत्तियों को क़ैंची से काटते हुए, उनका जी करता कि वे यहीं रह जाएँ। लली भी फ़िज़ूल डॉक्टोरेट के पचड़े में पड़ कर अपना जीवन

नष्ट कर रही है। उसे तो चाहिए कि वह कल्यान या रोहित से ब्याह करके अब यहीं बस जाय। रोहित और कल्यान के सहवास में बिताए हुए इन चार, छः दिनों ने तो उनके विचार ही बदल दिए! जीवन का अर्थ, जीवन का अभिप्राय कुछ और ही प्रतीत होने लगा....उन्होंने, मन ही मन, महानदी के घाट पर ही अपनी चिता जलाने का संकल्प-सा कर लिया।

कल्यान के साथ बैलगाड़ी में गांव गांव घूमते हुए, सुधा ने अनुभव किया कि वे दोनों एक दूसरे के जीवन से अनायास ही परिचित हो गए हैं। सुधा का कल्यान के जीवन से परिचित होना, रोहित के जीवन का भी परिचय पाना था, क्योंकि दोनों बचपन से दो–तन–एक–मन रहे हैं। दोनों कॉलेज में भी साथ थे। रोहित ने एक समय, अपनी जान जोखिम में डाल, कल्यान को गंगाजी के भँवर से छुड़ाया था। एम० ए० पास करने के बाद रोहित म्योर कॉलेज में प्रोफ़ेसर हो गया, और कल्यान, लॉ करके, अपनी दादी के पास पटना चला आया और वहीं पर वकालत करने लगा। दोनों के मां–बाप कूच कर चुके थे। साल भर बाद कल्यान की दादी भी चल बसी। दादी के मरने पर उसने रोहित के पास जा कर इलाहाबाद में ही प्रैक्टिस शुरू कर दी। मगर इसी दरमियान सरला ने रोहित से विश्वासघात किया—उसने अपनी सूरत पर तिजारत करनी चाही। मिस सरला देसाई इलाहाबाद में लेडी डॉक्टर थी। रोहित यह आघात न सह सका। आंतरिक पीड़ा से विह्वल होकर उसने इस्तीफ़ा दे दिया। जीवन से वह विरक्त-सा हो गया। जहां जहां रोहित जाता, उसकी छाया, कल्यान, को भी निश्चय ही जाना होता। महानदी के करारे पर आकर उसने 'माधवी कुंज' की स्थापना की। पास के दस हज़ार रुपये उसने कल्यान को सौंप दिए। अतएव, 'दी महानदी सॉ मिल्स' की नींव पड़ी। दोनों मित्र प्रीति की अटूट डोरी में बँधे हुए हैं, एक दूसरे पर जान देते हैं। रोहित की सारी कृतियों का बहुत-सा श्रेय

कल्यान को है। उसी ने रोहित को लिखने पर बाध्य किया, उसे प्रोत्साहन दिया, काव्य रचना योग्य वातावरण निर्माण किया। फलस्वरूप, 'शाप', 'प्रलय गान', 'पतिंगे की लाश', 'पाषाण के फफोले' आदि संग्रहों ने जन्म लिया।

सुधा ने एक दिन रोहित के काव्य के बारे में ज़िक्र करते हुए कल्यान से कहा: "इन संग्रहों को आप ने अभी तक छपवाया क्यों नहीं? मैं देखती हूँ कि आधुनिक हिंदी काव्य से रोहित की रचनाएँ बिलकुल निराली हैं। मेरे ख़याल में तो उनकी 'प्रलयगान' और 'पाषाण के फफोले' बहुत ही ऊँचे दरजे की कृतियां है। देखिएगा, प्रकाशित होते ही हिंदी संसार में धूम मचा देंगी।"

"मैंने तो कई मरतबा चाहा कि उन्हें छपवाऊँ," कल्यान बोला, "मगर रोहित ने मना कर दिया।"

"क्यों?"

"उसकी लहर। शायद वह नहीं चाहता कि अपनी आह भरी कृतियों से दुनिया का दिल बहलाए।"

"क्या आप नही समझते कि वे ग़लती कर रहे हैं?"

"आप जानती हैं, उसके दिल पर घाव लगा है। जब तक वह भरता नहीं, मै समझता हूँ, ऐसी ग़लती के लिए उसे माफ़ किया जा सकता है।"

"आप क्यों नहीं कोई तरकीब करते कि घाव जल्दी भर जाय?"

"मैं? नियति के आगे भला मैं क्या तरकीब कर सकता हूँ!"

सुधा को आश्चर्य हुआ। "आप नियति में विश्वास करते हैं?" उसने पूछा।

"मैं हर चीज़ में विश्वास करता हूँ," कल्यान ने उत्तर दिया।

कल्यान और रोहित के प्रति सुधा के मन में कौतूहल बढ़ने लगा। उनके जीवन की गुत्थियों को समझने की वह कोशिश करने लगी। उन गुत्थियों को सुलझाने की उसकी इच्छा होने लगी। ग्राम्य गीतों का संग्रह करने से उसका मन धीरे धीरे उचटने लगा, और वह अब 'माधवी कुंज'

ही में रह कर, कल्यान और रोहित के आसपास मँड़राने लगी। बाहर की शून्यता से सहसा दो प्राणी आकर 'माधवी कुंज' में कैसे घुल-मिल गए, इस पर विचार करने का किसी को अवकाश ही नहीं मिला। दिन बीतने लगे और किसी को इसका भान तक न हुआ।

अक्सर संध्या समय, जब सुधा महानदी के किनारे बैठ, पैर नीचे लटका कर उनसे पानी उछालती, थिरकती हुई नदी के ताम्बूल-रंजित अधरों को चूमकर जब सूर्य, अलमस्त की नाईं, नीचे को ढलक पड़ता, जंगल से उठती हुई बयार जब अपना सुगंधित दामन झटकती हुई इठला इठला कर चलने लगती, पास में बैठा हुआ कल्यान जब सहसा चुप होकर सुदूर आकाश में अकेले भटकते हुए किसी बादल के टुकड़े को देखने लगता, तब सुधा अनुभव करती कि उसकी हृदय-वीणा के कोमल तारों पर कोई अनोखी रागिनी बज रही है। और एक दिन, ऐसे ही एक अवसर पर, सहसा वह चौंक पड़ी। उसने अनुभव किया वह अपना दिल कहीं गुमा बैठी है। कब, किस तरह, उसे याद नहीं। कौतूहलपूर्ण आंखें उसने कल्यान की ओर फिराई। देखा कि वह उसी की ओर ताक रहा है, उसकी आंखें आज विशेष रूप से चमक रही हैं। सुधा का हाथ धीरे से अपने हाथों में लेकर उसने कहा: "सुधा! ...." कल्यान के माथे पर बारीक बारीक स्वेद-कण उभर आए, उसकी श्वासें तीव्र गति से चलने लगीं। "सुधा!" उसने कहा। सुधा के दिल में कसक उठने लगी—वैसी नहीं जैसी कि डॉक्टोरेट के लिए उठा करती थी। "कल्यान," उसने कहा, "कल्यान!" कल्यान ने सुधा का हाथ उठा कर चूम लिया। सुधा ने अपना सिर कल्यान की छाती से लगा दिया।

दोनों, इस मदहोशी के आलम में, महानदी के घाट पर बड़ी देर तक बैठे रहे। सुधा के प्रेम ने कल्यान के जीवन को परिपूर्ण कर दिया। कल्यान से प्रेम के छींटे पाकर सुधा के हृदय में छिपी हुई लौ यकायक प्रबल हो उठी। उसने महसूस किया अब वह इलाहाबाद वापस नहीं लौट सकती।

कल्यान के बिना, कल्यान को छोड़, कल्यान से दूर वह नहीं रह सकती। कल्यान ! . . . . न जाने क्यों, पर कल्यान का ख़याल करते ही उसकी आंखों के आगे एक और तसवीर आ खड़ी होती है—परिचित-सी, चिर-परिचित-सी। और फिर, तीव्र गति से आगे बढ़ कर, वह सारी जगह व्याप्त कर लेती है। फिर, कल्यान का कोई चिह्न तक नहीं मिलता। बस वही एक तसवीर होती है—परिचित-सी, चिरपरिचित-सी। विशाल माथे पर बिखरे हुए लम्बे लम्बे बालों से पानी चूता होता, बदन पर गीली धोती लिपटी होती, और शरीर भर मोती टँके होते। "क्या कहूँ आप को ? कैसे सम्बोधित करूँ ?" वह तसवीर कहा करती। " 'सुधा देवी' या 'मिस सुधा' ?" . . . . ओह ! यह तो कल्यान की ही छाया है—रोहित। हां, रोहित। मगर रोहित उससे इतना दूर दूर क्यों रहता है ? क्यों उससे हमेशा उद्दंडतापूर्वक व्यवहार करता है ? माना कि किसी ने उसका दिल दुखाया है; पर क्या सभी स्त्रियां वैसी होती हैं ?—निर्लज्ज, विश्वासघातिनी ? कितनी नफ़रत करता है वह स्त्रियों से ! उस दिन, स्त्री-शिक्षण पर बहस करते करते, कितनी आग उगली थी उसने !

"यह सब निकम्मी तालीम है जो उन्हें दी जाती है," उसने कहा था।

तब सुधा को भी जोश आ गया था। "आप क्या चाहते हैं कि स्त्रियों को चारदीवारी के अंदर क़ैद रख कर उन्हें पुरुषों के दिल बहलावे का सामान बनाया जाय ?" उसने पूछा था।

"जी नहीं; मगर मैं यह भी नहीं चाहता कि स्त्रियां टाइपिस्टस् और अकाउंटंट्स बन कर गृहस्थी को आग लगा दें। आदर्श पत्नि या माता बनने से पॉप्युलर लेडी डॉक्टर बनना बहुत आसान है, मिस प्रसाद।"

"क्या उन्हें उच्च शिक्षण देकर योग्य बनाना गुनाह है ?"

"कौन-सा शिक्षण ?" रोहित ने आवेश में आकर कहा था। "कौन-सा शिक्षण ? आप उन्हें किस योग्य बनाना चाहती हैं ? 'उच्च शिक्षण'

और 'स्त्री-स्वातंत्र्य' की आड़ में उनकी मातृत्व की भावनाओं को नष्ट करना, उन्हें योग्य बनाना है ऐसा मैं नहीं समझता। जब तक आप की युनिव्हरसिटियों से लड़कियां ग्रैज्युएट होकर बाहर निकलती हैं, आप देखेंगी, नारीत्व के सारे चिह्न काफूर हो चुके होते हैं। न उनमें स्वास्थ्य बाक़ी रहता है न कोई आकर्षण। धँसी हुई आंखें, चिपकी हुई छातियां और बिगड़ा हुआ दृष्टिकोण---यही उनकी विशेषताएँ होती हैं।" फिर, सुधा की ओर व्यंगात्मक दृष्टि से देख कर, उसने छींटे दिए थे : "आप जैसी एकाध अपवाद अवश्य मिल जायगी; लेकिन, साधारण तौर पर, मेरे कथन का आप को समर्थन ही करना होगा।"

और तब पिताजी ने भी, ज़ोरों से सिर हिला कर, रोहित का पक्ष लिया था। बहस में अपनी हार मानने के लिए सुधा तैयार नहीं थी, पर कल्यान से आंखों का इशारा पाकर वह चुप हो गई थी। यह कल्यान भी तो रोहित से सहमत था। कई बातों में दोनों बिलकुल एक से हैं, एक दूसरे की छाया है ये दोनों---रोहित और कल्यान, कल्यान और रोहित, रोहित, रोहित, रोहित....क्या नियति का यह भी कोई भेद है जो रोहित की तसवीर हरदम उसका पीछा किए जाती है? क्या यह सम्भव हो सकता है कि वह रोहित से प्रेम---ना; वह तो कल्यान की है। कल्यान की ही है। कल्यान के सिवा उसका और कोई नहीं। भला दूसरा और कोई उसका हो सकता है? हां, एक और कोई धुंधली-सी सूरत दिखलाई तो पड़ रही है। कौन है यह? शायद पिताजी हैं। पर---पर वह किसकी तसवीर इतने वेग से बढ़ी चली आ रही है? मोतियों से टँका हुआ यह किसका शरीर है? अरे, यह तो वही---

"सुधा," कल्यान ने आहिस्ता से पुकारा।

सुधा की विचार-धारा टूटी। उसने देखा महानदी की बालू पर, कल्यान की छाती से लिपटी हुई, वह बैठी है। आकाश में बिखरे हुए रंग लुप्त हो चुके हैं। कल्यान की छाती के अंदर से दिल की धड़कन साफ़

सुनाई दे रही है। "क्या सोच रही हो?" कल्यान उससे पूछ रहा है। "कहां हो, सुधा?"

सुधा कुछ चौंक-सी गई। "यहीं तो हूँ, कल्यान," उसने कहा, "यहीं ....तुम्हारे पास।"

*　　　*　　　*

'माधवी कुंज' के अंदर धीरे धीरे सुधा ने एक अनोखा स्थान ग्रहण कर लिया। घर के काम-काज में वह बरबस खिंच-सी गई। पंडितजी को जब कभी किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो वे इधर-उधर न भटक कर सीधे सुधा के ही पास जाते। कल्यान ने भी अपनी जरूरियात का सारा भार उसी पर डाल दिया। नौकर-चाकर उसी से पूछ कर घोड़ों को दाना-पानी देते और उसी से छुट्टी मांग कर घर जाते। रोहित भी सुधा के अस्तित्व पर ज़्यादा दिनों तक आंखें मूँदी न रख सका। अपने कमरे की सफ़ाई, अपनी रचनाओं के बिखरे हुए परचों की देख भाल, तथा सुबह के दूध के गिलास के लिए वह एक तरह से सुधा पर ही अवलम्बित रहने लगा। कभी कभी सुधा की किसी भूल के लिए उससे जवाब भी तलब किया जाता! ....

सुधा ने अनुभव किया कि अब वह मेहमान नहीं रही है, अब वह 'माधवी कुंज' में बसेरा लेनेवालों के जीवन की बागडोर सम्हाले हुए है, अब वह घर की मालकिन बनी बैठी है। डी० लिट० लेने का ख़याल और प्रोफ़ेसर होने की महत्वाकांक्षा अब उसके दिल में एकदम सिकुड़-सिकुड़ा कर मिटी जा रही है। 'माधवी कुंज' के रंगीन, कवितामय, सुखद वातावरण में वह बिलकुल खो-सी गई है। यहीं पर अपनी दुनिया आबाद करने की आकांक्षा उसके मन में प्रबल हो उठी है। परंतु फिर भी, रह रह कर, उसके हृदय में कुछ हलचल सी मचा करती है। उसे अपने जीवन में किसी बात का अभाव महसूस होता है। सिर्फ़ उसका कल्यान और उसके पिताजी उसके जीवन को परिपूर्ण बनाने में असमर्थ हैं। रोहित

के प्रति—'मौन संगीत' के रचयिता रोहित के प्रति—उसके मन में कौतूहल बढ़ता जा रहा है। 'पतिंगे की लाश', 'प्रलय गान' और 'पाषाण के फफोले' का उद्गम स्थान अवलोकन करने के लिए, उस उद्गम स्थान तक पहुँचने के लिए, उसका मन विकल हो उठा है।

आम्रमंजरियों से महकता हुआ दोपहरी का मादक सन्नाटा तथा किसी अज्ञात स्थान से आती हुई कोयल की मधुर कूक सुधा के मन को विचलित कर देती। उसे ऐसा प्रतीत होता मानो हवा का हर झोंका, कोयल की हर कूक नदी के किनारे वाले वट-वृक्ष से उसके लिए कोई संदेसा ला रही है. . .और तब वह 'माधवी कुंज' से निकल कर नदी की ओर चल पड़ती। वट-वृक्ष की घनी छांह में बैठे हुए रोहित को सुधा का आना खटक जाता। उसकी चुलबुलाहट, विचरते हुए हिरनों के पीछे उसका दौड़ना, ताली बजा बजा कर मोरों को नचाना, किसी न किसी बहाने बहस तथा छेड़-छाड़ करने की उसकी कोशिशें रोहित के लिखने में ख़लल पैदा किए बिना न रहतीं।

"देखो, सुधा, तुम यहां न आया करो," वह कहता। "यह जगह तुम्हारे लिए नहीं है।"

"क्यों न आऊँ ? वाह ! क्या इस जगह का तुमने ठेका ले रक्खा है ?"

"तुम घर पर ही रहा करो। अगर आती हो, तो चुप बैठो। तुम्हारी गड़बड़ में मुझसे लिखा नहीं जाता।"

"देखूँ क्या लिखा है," सुधा कहती और रोहित के हाथों से काग़ज़ों का पुट्ठल छीन लेती।

जब तक वह पढ़ती होती, रोहित उसके चेहरे पर उदय होते हुए भावों को ग़ौर से देखा करता। "जाने दो, तुम नहीं समझोगी," वह कहता। "काग़ज़ मुझे दो।"

कभी कभी किन्हीं ख़ास पंक्तियों का भाव समझाने के लिए सुधा

उसे मजबूर करती। रोहित समझाता। सुधा मुग्ध हो जाती। "ग़ज़ब ढाते हो!" वह कहती। "कल्पना की उड़ान ने तो कमाल कर दिया! .... पर कहीं कहीं तुम्हारी कृतियों में जीवन के उल्लास से उदासीनता टपकती है। तुम हमेशा यौवन का अभिसार मृत्यु के साथ ही क्यों कराते हो?" रोहित के होंठों पर कटु मुसकान उदित होती। "मुझे तुम्हारी राय की दरकार नहीं," वह झिड़क देता। "मैं तुम्हारे लिए नहीं लिखता हूँ। और न तुम मेरी कविताओं को समझने की कोशिश ही किया करो।"

हज़ार बार रोहित से तिरस्कृत होने पर भी, उससे बारम्बार झिड़कियां पाने पर भी, उसके प्रति सुधा के मन में कौतूहल कम नहीं होता, बल्कि प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। वह नहीं जानती —या जानना नहीं चाहती?—कि जिसे वह कौतूहल समझी हुई है, वास्तव में, वह अनुराग है, रोहित के प्रति अनुराग—उसकी हृदय-वीणा के कोमल तारों पर बजती हुई दूसरी अनोखी रागिनी, जिसे सुन कर वह खुद मदहोश हो जाती है।

रोहित को अपने महाकाव्य से सहसा कुछ असंतोष-सा होने लगा। जिस चीज़ का वह निर्माण करना चाहता है, वह नहीं बन रही है। उसे जान पड़ा उसकी रचनाओं के प्रति सुधा की समालोचना में कुछ सत्य अवश्य है। क्या अपनी कृतियों में उसे विश्व के प्रति प्रेम का अंश बढ़ाना होगा? क्या प्रेम ही जीवन है? क्या सत्य ही प्रेम है? क्या—रोहित के मन में शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। वह अपनी ही गुत्थियों में उलझ-सा गया।

सुधा हर रोज़ वहां आती। हर रोज़ वह रोहित के मानस-सरोवर में कंकड़ फेंक कर लहरें पैदा करती और चली जाती। रोहित, असहाय-सा, अपने अंतर्द्वंद में पड़ा हुआ, तड़पता, लिखने की चेष्टा करता, लिखा हुआ फाड़ डालता, फिर लिखता और फिर फाड़ देता। सुधा आती और चली जाती। फिर आती, फिर चली जाती। जब वह आती, रोहित के

मन की गुत्थियां सुलझती-सी प्रतीत होतीं। जब वह चली जाती, गुत्थियां उलझी की उलझी रह जातीं. . . .और रोहित सुधा के फिर आने की बाट बड़ी बेचैनी से जोहने लगता. . . .

एक दिन सुधा ने वहां आकर पूछा : "इन दिनों तुम कुछ लिख नहीं रहे हो, क्या बात है ?"

"क्या लिखूँ समझ में नहीं आता," रोहित ने सुधा की ओर देखते हुए कहा।

सुधा वट-वृक्ष के चौड़े तने से टिक कर खड़ी हुई, उस पर लिपटी लताओं को दुलार रही थी। "क्यों—अचानक यह तुम्हारा दिवालियापन क्यों ?" उसने मुस्कुराते हुए कहा।

"तुम यहां न आया करो, सुधा। तुम्हारी मौजूदगी में मुझसे लिखा नहीं जाता. . .तुम मुझे लिखने क्यों नहीं देतीं ?"

"मैंने भला तुम्हें लिखने को कभी मना किया है ? और अगर मेरी मौजूदगी में तुम्हारे भावों को बाहर निकलने में संकोच होता है, तो इसमें मेरा क्या दोष ?" सुधा ने झुक कर रोहित के पास पड़े हुए टेसू के कुछ फूल उठा लिए और उन्हें अपने जूड़े में खोंचती हुई बोली : "कितने प्यारे फूल हैं !"

रोहित ने देखा सुधा के जूड़े में आग लग गई। सारा जंगल उन फूलों से शोभायमान था, पर टेसू के फूल भी इतने सुंदर दीख सकते हैं, यह उसे आज ही ज्ञात हुआ। रोहित अपलक सुधा को ताकने लगा—उस निगाह से जिससे कि कभी विश्वामित्र ने मेनका को ताका था। सुधा का यौवन फूटा पड़ रहा था। उसकी नंगी बाहें, उसकी खुशनुमा गर्दन, उसके लाल रसीले होंठ. . . .

"क्या देख रहे हो ?"

"तुम्हें," रोहित ने कहा और हठात् उसकी कलाई पकड़ कर उसे अपने पास, शेर के चमड़े पर, खींच लिया। "तुम इतनी खूबसूरत क्यों हो ?

स्त्रियों को इतनी सुंदरता अच्छी नहीं लगती। यह अन्याय है—पुरुषों के प्रति अन्याय।"

सुधा की आंखों के अंदर, लम्बी लम्बी पलकों की ओट में, विजय और प्रेम की आभा थिरक रही थी। सुधा की गर्म कलाई, उसकी मादक आंखें, उसकी नशीली सांसें, उसका उभरा हुआ वक्षस्थल रोहित के सर्दाए हुए दिल को सेंक देने के लिए व्याकुल हुआ जा रहा था।

"क्या अन्याय है, रोहित?" सुधा ने उसकी आंखों में देखते हुए पूछा।

"तुम्हारी सुंदरता। तुमने देखा—तुम्हारी सुंदरता के आगे सारा बन लाज से लाल हुआ जा रहा है; सृष्टि की सारी शोभा, प्रकृति की सारी रंगीनियां तुम्हें सिजदा करने के लिए झुक आई हैं!"

रोहित के मुँह से अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुन, वह लजा-सी गई।

"तुम हमेशा मुझसे खिंचे हुए क्यों रहा करते हो, रोहित?" आखिर उसने पूछा।

"क्योंकि मैं तुमसे—नफ़रत करना नहीं चाहता।" रोहित ने सुधा को ज़ोरों से जकड़ कर, उसके लाल रसीले होंठों को चूम लिया। सुधा क्षण भर के लिए बेसुध-सी हो गई। "रोहित!" अस्पष्ट और कांपती आवाज़ में उसने कहा, "रोहित! . . . . तुम नहीं जानते मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ। बोलो, तुम भी मुझे चाहते हो। मैं तुम्हारे मुँह से सुनना चाहती हूँ कि तुम भी मुझ से प्रेम करते हो।" रोहित ने सुधा को छोड़ दिया। "प्रेम!" उसने व्यंग भरे लहजे में कहा, "प्रेम! . . . . इस शब्द से शायद मैं परिचित हूँ . . . . क्या अब तुम भी प्रेम करोगी!"

सुधा की आत्मा रो उठी। रोहित के हृदय की तीव्र वेदना देख, सुधा की आत्मा रो उठी। सुधा जानती थी कि रोहित उन व्यक्तियों में से है जो बिना प्रेम किए और पाए जीवित नहीं रह सकते। स्त्री के दिए

हुए घाव पर मरहम रखने के लिए स्त्री ही चाहिए। रोहित का घाव भर देने के लिए सुधा उतावली हो उठी।

"तुम्हारे दिल को किसी ने चोट पहुँचाई है," उसने कहा। "चाहो तो तुम उसका बदला मुझ से ले सकते हो।" सुधा की आंखें डबडबा आईं। आंसू का एक बूँद रोहित के हाथ पर टपक कर फूट गया। "क्या तुम्हारे दिल में मेरे लिए बिलकुल जगह नहीं ?"

"मैं नहीं जानता।" रोहित ने उसकी ठोड़ी पकड़ कर चेहरा ऊपर उठाया। सुधा का जूड़ा खुल पड़ा, बाल कंधों पर बिखर गए, टेसू के फूल नीचे ढुलक पड़े। "मगर इतना ज़रूर कहूँगा कि तुम सुंदर हो, और बहुत सुंदर हो....उतनी सुंदर जितने कि ये टेसू के फूल....बल्कि, इनसे भी ज़्यादा। जी चाहता है कि--कि--" रोहित का गला सूख गया। उसका अंग अंग फड़कने लगा।

"क्या जी चाहता है ?" अपने चेहरे पर से बिखरे बालों को हटाते हुए सुधा ने पूछा।

"कि--तुम्हें निचोड़ कर पी जाऊँ"

सुधा ने अपनी देह रोहित की गोद में ढीली छोड़ दी। "तो पी क्यों नहीं जाते....तुम्हें मना किसने किया," उसने कहा। और तब, उसे जान पड़ा मानो उससे कोई बहुत आहिस्ता से पूछ रहा है: 'क्या सोच रही हो ?....तुम कहां हो, सुधा ?"

* * *

चार सालों से धूल में पड़ी सोती हुई वीणा 'माधवी कुंज' में आज पहली बार बजी। रोहित का यह मानसिक परिवर्तन देख, पंडितजी पुलकित हो उठे और बगिया में टहलते हुए चुटकी बजा बजा कर ताल देने लगे। सुधा को ताज्जुब हुआ। वह यकायक समझ न सकी कि रोहित को आज यह हो क्या गया। कल्यान की आंखों में मारे खुशी के आंसू छलक आए। सुधा के पास जाकर उसने कृतज्ञता पूर्ण कहा: "सुधा, तुम बड़ी

अच्छी हो ! तुमने रोहित को जिला दिया....चार साल पहले का अपना दोस्त आज मैंने फिर से पा लिया ।"

सुधा अपने हाथों में कल्यान का हाथ लेती हुई बोली : "तुमसे मुझे कुछ कहना है, कल्यान ।"

"ना, कोई ज़रूरत नहीं ।" सुधा के बालों को वह सहलाने लगा । "मैं सब समझता हूँ । तुमने अच्छा किया, सुधा । मैं सच में बहुत खुश हूँ ।"

सुधा रो पड़ी । "कल्यान !" उसने कहा, "कल्यान ! मैंने तुम्हें धोखा दिया....पर—पर ईश्वर की क़सम खाकर कहती हूँ, मै तुम्हें चाहती हूँ । तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकती ।"

"अरे ! कैसी बातें करती हो ! रोहित नहीं जानता, लेकिन वह तुमसे प्रेम करने लगा है । उसके काव्य में उसे अब सारी प्रेरणा तुम्हीं से मिलेगी तुम अब उसे नहीं ठुकरा सकतीं । मैं नहीं ठुकराने दूँगा ।"

"मेरी समझ में नहीं आता, कल्यान, मुझे क्या हो गया है । जब मैं तुम्हारे पास होती हूँ, दिल मेरा रोहित के साथ होता है । और जब उसके साथ होती हूँ, दिल तुम्हारे लिए तड़पता है !"

"तुम तो पगली हो । आओ, रोहित के पास चलें । आज वीणा बज रही है ! आज रोहित वीणा बजा रहा है !"

सुधा को लिए कल्यान रोहित के कमरे पर पहुँचा । टेबल-लैम्प के शेड पर सुधा का हरा रेशमी ब्लाउज़ डाल, रौशनी मंद कर दी गई थी । उस ब्लाउज़ से चूती हुई ठंडी हरियाली में, खिड़की में बैठा हुआ, रोहित अपनी वीणा में मस्त था । उसके पीछे फूलों से लदी हुई लताएँ झूल रही थीं । और उनके भी पीछे, तारों से जटित, रात्रि का झिलमिल परदा पड़ा हुआ था । आहट पा, रोहित ने दरवाज़े की ओर देखा, देख कर मुस्कुरा दिया । कल्यान और सुधा भी मुस्कुरा रहे थे ।

"ऐसे नहीं, रोहित," अंदर आता हुआ कल्यान बोला । "यहां नीचे आकर बैठो । तुम बजाना, सुधा गाएगी ।"

रोहित खिड़की से उतर पड़ा। "अरे वाह ! यह तो मुझे पता ही न था कि तुम गाती भी हो !" उसने कहा।

"ना, ना, मुझे गाना-वाना नहीं आता," वह बोली।

"आता कैसे नहीं," कल्यान ने कहा। "उस दिन जो सुनाया था मुझे घाटपर। चलो, आओ, अब सुनाना होगा। वही—बिंदिया वाला।"

बड़ी मुश्किल से, बड़ी मिन्नतों के बाद, सुधा राज़ी हो गई। रोहित ने वीणा के तार छेड़े, और सुधा ने, नज़ाकत से खांस कर, शुरू किया: 'कहां गिरी रे मोरी माथे की बिंदिया।'

वीणा की मीठी झनकार से लिपट कर सुधा के सुरीले कंठ ने खूब समां बांधा। '....मोरी माथे की बिंदिया। कहां गिरी हो मोरी माथे की बिंदिया।' 'माधवी कुंज' के उस छोटे से कमरे में, सुधा के हरे ब्लाउज़ से ढके हुए उस टेबल-लैम्प के आसपास, मस्ती का मेंह बरसने लगा। 'बिंदिया रे, मोरी माथे की बिदिया।' सुधा की आखों का सुरूर रोहित ने देखा, कल्यान ने भी देखा। 'बिंदिया हो मोरी बिंदिया।' उफ़ ! ग़ज़ब कर दिया ! कोयल-सी कूक रही है ! 'कहां गिरी हो—' कितना सुंदर भाव है ! कल्यान और रोहित के दिलों की ख़ुमारी उनकी आंखों में झलकने लगी। सुधा ने गाते गाते दोनों की आखों में देखा, दोनों को अपनी आखों में देखते हुए देखा....और तब, सहसा, मिज़राब से छेड़े हुए वीणा के तारों की तरह, उसका दिल झंकृत हो उटा। दिल की झनकार उसके कानों तक पहुँची। उसने सुना, उसका दिल कल्यान को पुकार रहा है, रोहित को पुकार रहा है। हां, वह उन दोनों को पुकार रहा है। सुधा उन दोनों से प्रेम करती है। दोनों में से एक को भी वह नहीं गँवा सकती। वे दोनों उसके जीवन में समाए हुए हैं, उसके हृदय में व्याप्त हैं। वे दोनों उसके हैं। वह उन दोनों की है....

* * *

"यह असंभव है, सुधा," कल्यान ने कहा। "तुम्हें रोहित से ही शादी करनी होगी। मुझे भूल जाना होगा।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता, कल्यान," रोहित बोला। "सुधा तुम्हारी है। अगर मुझे पहले पता होता कि तुम उससे प्रेम करते हो, तो मैं कभी तुम्हारे रास्ते में न आता। तुम मेरी फ़िक्र न करो। तुम्हारी ख़ुशी में मेरी ख़ुशी होगी।"

सुधा खिलखिलाकर हँस पड़ी। "तुम लोग तो बिलकुल बच्चों की तरह करते हो!" उसने कहा। "जीवन भर तो एक दूसरे पर जान देते रहे, एक पान बांट कर खाया और आज तुम दोनों को एक स्त्री से प्रेम करना असंभव हो गया है!"

"स्त्री कुछ पान नहीं है, सुधा, जिसे बांट कर खाया जाय। आगे चलकर तुम्हीं हम दोनों दोस्तों के मनमुटाव का कारण बन जाओगी।"

"तुम्हारा यह ख़याल संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण है, कल्यान। क्या एक मां अपने दो बच्चों को प्यार नहीं करती? क्या दो बच्चे एक ही मां से प्रेम नहीं करते? क्या वे अपनी मां को किसी एक की हो जाने के लिए बाध्य करते हैं? दो भाइयों के मनमुटाव का कारण उनकी मां कभी नहीं बना करती। बल्कि दो भाइयों में प्रेम इसी लिए बना रहता है कि वे एक ही मां के हैं।"

"तुम्हारी यह मिसाल फिर ग़लत है, सुधा। मां और स्त्री में फ़र्क़ है। दोनों के प्रेम में फ़र्क़ है," रोहित ने कहा।

"प्रेम में फ़र्क़ नहीं हुआ करता, रोहित। रिश्ते में फ़र्क़ हो सकता है, प्रेम में नहीं। प्रेम स्वाभाविक है, रिश्ता कृत्रिम।"

"मगर ऐसा करने से दुनिया में गड़बड़ी मच जायगी, सुधा; समाज को हानि पहुँचेगी," कल्यान बोला।

"उस समाज को हानि बेशक पहुँचेगी जहां पर परस्पर प्रेम नहीं; और न मैं चाहती ही हूँ कि यह बात उस दुनिया में रिवाज पाए। मगर

अपनी इस दुनिया में—इस 'माधवी कुंज' वाली दुनिया में—कोई गड़बड़ी नहीं मच सकती। हम तीनों परस्पर प्रेम करते हैं। हम तीनों किसी एक के बिना सुख से नहीं रह सकते। तुम दोनों मेरी दो आंखें हो....और मेरे लिए इससे ज़्यादा सुख की क्या बात हो सकती है कि मेरी दोनों आंखें मिलकर सदा एक ही नज़र बनी रहें।"

सुधा की दलील का दोनों पर असर पड़ा।

"मैं समझता हूँ, कल्यान, कि मैं सुधा के प्रस्ताव से सहमत हूँ," रोहित ने कहा। "हमारी इस विचित्र गुत्थी को सुलझाने का बस अब यही एक उपाय है।" फिर, कुछ मुस्कुरा कर : "अगर तुम्हें कोई एतराज़ न हो तो—"

कल्यान भी मुस्कुराया। "मुझे कोई एतराज़ नहीं—" वह बोला, "पर शायद सुधा के प्रति यह अन्याय होगा।"

इस बार सुधा कुछ लजा-सी गई।

"मगर हां, सुधा," रोहित ने सहसा घबरा कर कहा, "तुम पिताजी से क्या कहोगी? वे तो अपना यह विचित्र प्रबंध कभी स्वीकार नहीं करेंगे।"

"तुम उन्हें नहीं जानते, रोहित," माथे का पसीना आंचल से पोंछते हुए सुधा ने कहा। "उन्हें तुम रिटायर्ड पोस्टमास्टर मात्र ही न समझो। उनके जैसा विशाल हृदय शायद ही कहीं मिलेगा। उनकी नज़रों में मेरे सुख की क़ीमत सबसे ज़्यादा है—समाज के नियमों से भी ज़्यादा।"

इसी समय खड़ाऊँ की खट खट सुनाई दी। अधूरे महाकाव्य की रचनाओं का पट्टल लिए पंडितजी ने रोहित के कमरे में प्रवेश किया।

"तुमने तो कमाल कर दिया, रोहित," उन्होंने आते ही कहा। "हिंदी को आज उसका जयदेव मिल गया। मै तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, तुम्हारा यह ग्रंथ पूरा होने पर अमर रहेगा।" फिर, सुधा और कल्यान की ओर

देख कर: "तुम लोग नहीं समझते कि रोहित की ये नई रचनाएँ बिलकुल निराली हैं ?"

"जी हां," सुधा ने सानंद कहा, "मैंने तो इनसे उसी दिन कहा कि इनके सामने अब दूसरे सब कवियों का अस्तित्व फीका पड़ गया। सच में, रोहित, तुम अब अमर हो गए।"

कल्यान—जो कि शायद रोहित की कृतियों का अर्थ रोहित से भी ज्यादा समझ पाता था—बोला: "अब तक रोहित सब रसों में अपनी लेखनी डुबा चुका है—और उसी कमाल के साथ! यह विशेषता दूसरे किसी भी कवि में नहीं पाई जाती।"

पंडितजी मुस्कुराए। "हां, एक श्रृंगार रस ही छूट गया था, सो वह भी अब बरस पड़ा है। क्या नाम रख रहे हो, रोहित, अपने इस महाकाव्य का ?"

"क्या रखूँ ?" रोहित हँसता हुआ बोला। "आप ही सुझाइए न कोई नाम।"

"मैं! कल्यान और लली के होते मैं सुझाऊँ! तुम सुझाओ, कल्यान, कोई नाम।"

"मेरी राय में यह काम सुधा को ही सौंपना अच्छा होगा," कल्यान ने कहा। "इन बातों में मेरा दिमाग़ बिलकुल नहीं चलता।"

तब रोहित ने भी सुधा की ओर देख कर उसे नाम सुझाने के लिए कहा।

"मगर यह ख़याल रहे," कल्यान बोला, "कि काव्य को सजने लायक़ ही नाम भी हो। नहीं तो 'पतिंगे की लाश' की तरह तुम भी कहीं सुझा बैठो: 'खटमल का खून,' 'चूल्हे की राख,' 'उल्लू का कलेजा'—"

सब हँस पड़े।

"हां, सुधा, सुझाओ न," रोहित ने आग्रह किया।

सुधा ने शरारत भरी आंखों से रोहित की ओर देखा। "सुझाऊँ ?" वह बोली।

"सुझाओ।"

"मेरी समझ में 'टेसू के फूल' नाम उपयुक्त रहेगा।"

कल्यान और पंडितजी ख़ुशी से फड़क उठे। उन्होंने कहा कि नाम वास्तव में बहुत सुंदर है।

रोहित मुस्कुराया। "बहुत अच्छा है।" वह बोला। "बड़ा उपयुक्त ! 'टेसू के फूल'....'टेसू के फूल'....ओह ! सच में बहुत बढ़िया नाम है ! बहुत उपयुक्त ! तुम्हारी इस सूझ पर मैं दाद देता हूँ, सुधा।"

सुधा मुस्कुरा रही थी। "शुक्रिया," उसने कहा। "शुक्रिया।"

पुष्पा

प्रोफ़ेसर शिवकुमार माथुर को आज अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ। उन्हें जान पड़ा मानो वे ख़्वाब देख रहे हों। 'पुष्पा का तार! नामुमकिन है,' उन्होंने सोचा। 'मगर तार पर नाम तो उसी का है.... पुष्पा! मेरी पुष्पा!' उत्तेजनावश उनकी हथेलियों में नमी आगई। तार का पर्चा उनके अस्थिर हाथ में भीगकर कुछ सिकुड़-सा गया। 'पुष्पा,' उन्होंने एक निःश्वास लेकर, बड़े प्रेम से कहा और रेडिओ के ऊपर रखी हुई फ़ोटोफ़्रेम में मुस्कुराती हुई सूरत को ताकने लगे। 'प्यारी पुष्पा!' उन्होंने तार फिर से पढ़ा—शायद बीसवीं बार। "शाम को मेल से पहुँच रही हूँ स्टेशन पर मिलना—पुष्पा।" पर्चे को प्रोफ़ेसर साहब ने फिर ज़ोर से मुट्ठी में कस लिया वरना शायद उसमें लिखी ख़बर उड़ ही तो जाती। फिर वे रेडिओ के पास जाकर सोफ़े के हाथ पर बैठते हुए उसी तसवीर को एकटक देखने लगे।

तसवीर पर नीचे की ओर दाहिने कोने में, सुंदर बारीक अक्षरों में लिखा हुआ था: "सदैव तुम्हारी ही, पुष्पा।" शिवकुमार को दस साल की पुरानी बातें याद हो आईं। उस समय वे इलाहाबाद से इंटरमीजिएट का इम्तिहान देकर घर लौटे थे। दिनभर सोना, शाम को टेनिस खेलना और आधी रात तक छत पर पड़े पड़े अँगरेज़ी के उपन्यास पढ़ना ही उन दिनों उनका कार्यक्रम था।

मगर एक दिन दोपहर को उनकी छोटी बहन, सुधा, ज़िद करके उन्हें बैठक में कैरम खेलने ले गई थी; और तभी पुष्पा को उन्होंने पहली बार देखा था। पीले रंग की सूती साड़ी और काले सैटिन का ब्लाउज़ पहने हुए थी। उन्हें अभी तक याद है। कितनी नाज़ुक, कितनी चंचल, कितनी

सुंदर थी वह ! बायें हाथ की छोटी उँगली पर चिंधी बँधी हुई देखकर उन्होंने पूछा था : "यह आप की उँगली को क्या हो गया ?"

लेकिन पुष्पा ने तो बोलने की क़सम खा रक्खी थी। चिंधीवाला हाथ छिपाते हुए उसने थोड़ा-सा सिर्फ़ मुस्कुरा दिया था। उसकी आवाज़ सुनने के लिए शिवकुमार ने उसे बुलवाने की बहुतेरी कोशिश की—तरह तरह की बातें बनाईं, कभी 'पॉइंट्स' पूछे, कभी 'स्ट्राइकर' मांगा, कभी खेलने में बेईमानी भी की, मगर पुष्पा न बोली। शायद वह ताड़ गई थी कि उसे बुलवाने की कोशिश चली है, तभी तो रह रहकर वह मुस्कुरा पड़ती थी। आह ! बिलकुल इसी तरह तो वह मुस्कुराती थी जैसे कि इस तसवीर में। कितनी मुश्किल से तसवीर खिंचवाने पर वह राज़ी हुई थी।

उस समय वे थर्ड ईयर में थे; दशहरे की छुट्टियों में घर आए हुए थे। पुष्पा मैट्रिक में पढ़ रही थी। तसवीर के लिए 'हां' तो कह दिया था मगर जब वे कैमरा लेकर आए तो वह भागने लगी। लेकिन दौड़कर शिवकुमार ने आलमारी की ओट में उसे पकड़ ही तो लिया। वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी और फिर फ़ौरन उसे अपनी दशा का भान हो आया।

"छोड़ो मुझे," उसने हाथ छुड़ाने की कोशिश करते हुए कहा। "मुझे जाने दो।"

"जाओ, अगर छुड़ा सको तो; रोकता कौन है ?" शिवकुमार ने शरारत के तौर पर कहा।

"जाने भी दो, शिव—कोई देख लेगा।"

"बला से—" तभी तो शिव ने पहली बार पुष्पा के गालों को चूमा था। हां, वही तिलवाला गाल। लाज से लाल होते हुए गाल पर नन्हा-सा वह काला तिल और भी निखर आया था।

चाय का ट्रे लिए अब्दुल ने कमरे में आकर देखा प्रोफ़ेसर साहब तसवीर में गुम हैं। उनके इस पुराने मर्ज़ से वह वाक़िफ़ था। पिछले

आठ साल की लम्बी मुलाज़िमत में अपने मालिक को उसने कई दफ़ा अजीब हरकतें करते देखा था। मालिक ने भी कभी कभी पुष्पा के बारे में उससे ज़िक्र कर, अपने दिल का बोझ हलका करने की कोशिश की थी।

अपनी मौजूदगी जतलाने के ख़याल से, छोटी-सी अपनी काली-सफ़ेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए, अब्दुल ने दो-एक बार धीरे धीरे खांसा—मगर प्रोफ़ेसर साहब तक शायद उसकी आवाज़ न पहुँच सकी।

"चाय हाज़िर है, सरकार," अब्दुल ने कहा।

प्रोफ़ेसर साहब तार पढ़ने लगे और फिर तसवीर में खो गए। 'बेटे को तसव्वुर सता रहा है यार का,' अब्दुल ने सोचा और मन ही मन हँसने लगा। जज़बात तो उसके पास भी थे मगर प्रोफ़ेसर साहब की तरह किसी खोई हुई चीज़ पर हमेशा आंसू बहाना उसे नहीं जॅंचता था। आख़िर उसने भी ज़िन्दगी देखी थी। वह भी कभी जवान था—वैसे तो अब भी वह बूढ़ा नहीं। पहली बीवी मर गई तो उसने दूसरी शादी की ; और उसके भाग जाने पर क्या वह रोता ही रहा ? अरे, औरत तो पैर की जूती है। एक गई दूसरी। दूसरी नहीं, तीसरी सही। अगर प्रोफ़ेसर साहब की माशूक़ा ने किसी दूसरे के साथ शादी कर ली है तो क्या उसके लिए वो हमेशा हाथ पर हाथ दिए ही बैठे रहेंगे ? आठ साल तो इस तरह गुज़ार दिए। अब क्या सारी उम्र यही हश्र रहेगा ? "चाय ठंडी हो रही है, ग़रीब-परवर," अब्दुल ने हिम्मत करके ज़रा ज़ोर से आवाज़ दी।

ग़रीबपरवर ने सुन लिया। धीरे से गर्दन घुमाकर वे अब्दुल की ओर देखने लगे। अब्दुल की ओर, अब्दुल को नहीं। उसे अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर कर फिर से खांसना पड़ा।

"अँ ? कौन—अब्दुल ? क्या है ?" प्रोफ़ेसर साहब को होश आ गया।

"चाय लिये खड़ा हूँ, हुज़ूर, बड़ी देर से, फिर आप नाराज़ होंगे के ठंडी हो गई।"

प्रोफ़ेसर साहब हँस दिए। "कौन कहता है हम नाराज़ होंगे ? भला तुमसे ? और आज ? . . . . अच्छा, बनाओ।"

अब्दुल ने ट्रे मेज़ पर रख दी और कप में चाय बनाकर उन्हें देता हुआ बोला: "गुस्ताख़ी माफ़ हो, सरकार, पर यह तसवीरपरस्ती बहुत हो चुकी। अब मेरे लिए एक मालकिन ला दीजिए। घर भी आबाद हो जाएगा और आप की तबीयत भी लगी रहेगी।" मौक़ा देखकर मुँहलगा अब्दुल बहुत कुछ कह गुज़रता था।

"मालकिन !" प्रोफ़ेसर साहब थोड़ा-सा मुस्कुराए। "शाम को आनेवाली हैं।"

"आप तो, सरकार, मज़ाक़ करने लगे। जब कभी यह ग़ुलाम कोई इल्तिजा करता है, आप बात उड़ा देते हैं।"

"नहीं, मज़ाक़ नहीं, हम सच कहते हैं। आज शाम को आ रही हैं। यह देखो तार।"

अब्दुल ज़रा पास आकर ऊँट-सी अपनी लम्बी गर्दन तार की तरफ़ बढ़ाता हुआ बोला: "किसका है, हुज़ूर ?"

प्रोफ़ेसर साहब ने पुष्पा की तसवीर की ओर इशारा किया।

"सच ?" अब्दुल ने पूछना चाहा लेकिन मारे ताज्जुब के उसकी ज़बान से शब्द साफ़ न निकल पाया। उसका मुँह एक विचित्र आकार में खुलकर रह गया; और उसकी वह छोटी छोटी पैनी आंखें कभी तसवीर को और कभी प्रोफ़ेसर साहब को देखने लगीं। चूड़ीदार पाजामे में दुबला पतला अब्दुल बिलकुल एक व्यंगात्मक चित्र मालूम हो रहा था। उसे देखकर प्रोफ़ेसर साहब को हँसी आ गई। अब्दुल भी हँस पड़ा। मालिक नौकर पर हँस रहा था, नौकर मालिक पर। फिर कुछ सम्हल कर अब्दुल ने पूछा: "लेकिन, हुज़ूर, उनकी तो—वो तो—वो तो शादी शुदा हैं ! आप ने तो एक मरतबा कुछ ऐसा ही फ़रमाया था ?"

"हां, हमारी बदक़िस्मती !" प्रोफ़ेसर साहब ने कहा। "अगर हम

विलायत न जाते और हमारी ग़ैरहाज़िरी का नाजायज़ फ़ायदा उठा, उसके घरवाले उसे किसी और से शादी करने के लिए मजबूर न करते तो आज वह तुम्हारी ही मालकिन होती, अब्दुल !"

शिवकुमार की आवाज़ में दर्द लिपटा हुआ था। पुष्पा की शादी का समाचार सुनकर उनके दिल पर जो गुज़री थी वे ही जानते थे। तभी से उन्होंने आजन्म अविवाहित रहने की ठान ली थी। उनकी मां और बड़े भाई ने लाख मनाया पर वे न माने। पुष्पा की याद उनके दिल से कभी जुदा न हो सकी।

"तो, सरकार," अब्दुल कुछ परेशान सा होकर बोला, "तो क्या उनके शौहर—खुदा न करे—खुदा करे—यानी मेरा मतलब है के—यानी—उनके शौहर ज़िन्दा तो है ?"

"हां," प्रोफ़ेसर साहब बोले, "बहुत ज़िन्दा हैं।"

"तो, सरकार, क्या उनको छोड़कर—उनसे—"

"नहीं, यह बात नहीं; किसी काम से आ रही होंगी," उन्होंने कहा। फिर खुश होकर बोले। "हमें मिलने के लिए लिखा है।" उन्हें पुष्पा का तिलवाला गाल नज़र आने लगा। उसकी लम्बी चोटियां उनकी आखों के आगे नागिन-सी लहराने लगी। आंचल का बार बार सिर से खिसकना और बार बार उसे ठीक करने की वह बेकार कोशिश...."अब्दुल," उन्होंने पुकारा।

"जी, सरकार।" वह तसवीर को घूर रहा था।

"तुम्हें अपनी बीवी कभी याद नहीं आती ?"

"कौनसी, हुज़ूर ? पहली या दूसरी ?"

प्रोफ़ेसर साहब मुस्कुराए। "कोई भी," उन्होंने कहा।

अब्दुल दाढ़ी पर हाथ फेरने लगा। "याद करने से क्या किसी को कोई चीज़ मिल जाया करती है, सरकार ? पहली तो चल ही बसी—रसूले पाक उसकी रूह को जन्नत बख्शे। और दूसरी कम्बख्त भाग खड़ी

हुई। जिस किसी के पास होगी, यक़ीन मानिए, हुज़ूर, उसका वबालेजान बनकर होगी। अपने को हूर की बच्ची समझती थी साली।"

"ख़ैर, जाने दो," प्रोफ़ेसर साहब हँसी रोकते हुए बोले। "तुम तो अपने ग़ुस्से में अपनी मालकिन को भूल ही बैठे!"

"नहीं, हुज़ूर, मालकिन को कैसे भूलूँगा। पर ये कैसी मालकिन, सरकार, के ये आईं और वो गई? हमेशा के लिए तो आप के पास आ नहीं रही हैं। कोई इस्तमरारी बंदोबस्त कीजिए, ग़रीबपरवर। आप के कालिज में भी तो बहुत-सी पढ़ती हैं ससुरी। आप ज़रा इशारा भर करें, क़सम अल्लाह पाक की अगर सब की सब आप के क़दमों पर न गिर पड़ें।"

प्रोफ़ेसर साहब हँस पड़े। अब्दुल की बातों में कभी कभी उन्हें बड़ा मज़ा आता था। उसकी ख़ुशामदाना तर्ज़, उसकी डींगें, उसकी शेख़ी—बिलकुल उसकी अपनी सिफ़त थी। तभी तो पास पड़ोस के बँगलों के नौकर-चाकर अब्दुल को 'अब्दुल मियां' बोलते; पूरन धोबी की विधवा भावज, मूँगा, 'बड़े मियां' कहती और चौक पर का पानवाला 'ख़ां साहब' कहा करता था।

इसी समय टेलिफ़ोन की घंटी बजी। अब्दुल ने रिसीह्वर उठा कर सुना, और फिर उस पर हाथ रखकर, पान से रचे हुए अपने लाल-काले दांतों से हँसता हुआ बोला: "आप को दर्याफ़्त कर रहे हैं, हुज़ूर।"

इस वक़्त टेलिफ़ोन उन्हें कबाब में हड्डी की तरह अखर गया। "कौन है, नाम पूछो," उन्होंने कहा।

"ज़नानी आवाज़ है, सरकार।"

"कोई हर्ज नहीं, नाम पूछो। ज़नानी आवाज़ को क्या नाम नहीं होता?"

अब्दुल ने नाम पूछा। "वो नाम नहीं बतलातीं, हुज़ूर; हँसती हैं," लाचार होकर उसने इत्तला दी।

प्रोफ़ेसर साहब चाय की ख़ाली प्याली ट्रे में रखते हुए उठे और अब्दुल

के हाथ से उन्होंने टेलिफ़ोन ले लिया। अब्दुल ट्रे लेकर अन्दर चला गया।

"हलो—हलो—" प्रोफ़ेसर साहब ने टेलिफ़ोन में कहा और उनके कानों में एक परिचित-सी हँसी सुनाई दी। "हल्लो! कौन, पुष्पा! अरे, कब आगई तुम?"

"सुबह—आज सुबह," दूसरे छोर पर पुष्पा ने कहा। "तुमने तो मेरी आवाज़ पहचान ली, शिव!"

"भला मैं तुम्हारी आवाज़ न पहचानता? ओह! तुम—तुम अन्दाज़ा नहीं लगा सकतीं मुझे कितनी ख़ुशी हुई है....ओह, पुष्पा!....बरसों बाद आज मुझे किसी ने 'शिव' कहकर पुकारा है।"

"आठ बरस बाद।"

"हां, आठ बरस बाद!"

"कैसे हो, शिव?"

"ज़िन्दा हूँ!....तुम कहां से बोल रही हो? अँ? पैरेडाइज़ होटल। पर तुम तो शाम की गाड़ी से आनेवाली थीं न?"

"हां, मगर बाद में डॉक्टर ने सलाह दी कि पहली गाड़ी से ही जाया जाय।"

"डॉक्टर?"

"हां; रमा के हाथ की हड्डी टूट गई है। उसे एक्स-रे कराने लाई हूँ।"

"रमा कौन?" शिव ने पूछा।

पुष्पा खिलखिलाकर हँस पड़ी। "मेरा बेटा," उसने कहा।

"ओह, तो तुम मां हो चुकी हो!"

पुष्पा फिर हँसी।

"बोलो, कब मिलती हो? जब कहो? मैं तो तुम्हें देखने के लिए मरा जा रहा हूँ। अभी आओ न? अरे भई, कॉलेज तो मुझे ग्यारह बजे जाना है—अँ? क्या कहा? शाम को? क्यों? तो कब तक लौट

जाओगी अस्पताल से ? अच्छी बात है, जैसी मरज़ी। अभी तो रहोगी कुछ दिन ? क्या ? बिलकुल नामुमकिन।"

"नहीं, शिव, देखो न, उन्हें सिर्फ दो ही दिन की छुट्टी मिली है—कल जाना ही होगा।"

"आई भी हो तो सिर्फ़ दो दिन के लिए !"

"तभी तो होटल पहुँचते ही तुम्हें फ़ोन किया।"

"अच्छा, सुनो, तो मैं शाम को कब मिलूँ ? तुम आओगी। अच्छी बात है। खाना यहीं होगा। हां, सब को। मैं इन्तज़ार—हलो हलो—पुष्पा—"

पुष्पा ने टेलिफ़ोन बन्द कर दिया था। प्रोफ़ेसर साहब रिसीव्हर रखकर सोफ़ेपर आ बैठे और उत्तेजनावश कुछ गुनगुनाने लगे। फ़ोटो-स्टैंड में पुष्पा मुस्कुरा रही थी। उन्होंने अब्दुल को आवाज़ दी। उन्हें पूरा इतमीनान था कि अन्दर जाने का बहाना कर, वह दरवाज़े की आड़ में खड़ा सुन रहा होगा। "जी हुज़ूर," कहता हुआ अब्दुल फ़ौरन हाज़िर हुआ।

"देखो, रात के खाने का इन्तज़ाम करो। तुम्हारी मालकिन आ रही हैं। खाना अच्छा बने, समझे ?"

"कितने आदमियों का खाना है, सरकार ?"

"अँ ? यही, तीन, चार। और सुनो, बाज़ार से थोड़े आम ले आना।"

आज प्रोफ़ेसर साहब की तबीयत पढ़ाने में न लगी। पुष्पा की खिलखिलाहट उनके कानों में बराबर गूँजती रही; उसका तिलवाला गाल उनकी आंखों के आगे लगातार नाचता रहा। विद्यार्थी-जीवन के पुराने प्यारे दिन—जिन में वे थे और उनकी पुष्पा थी—उन्हें फिर से याद आने लगे। पुष्पा को खोकर उन्होंने एक प्रकार की आत्महत्या ही कर ली थी। जीवन अर्थहीन हो गया था। मां और बड़े भाई अलग दुखी थे। उन्होंने कई लड़कियां जुटाईं और कई बार मिन्नत की मगर

शिवकुमार शादी करने को कभी राज़ी न हुए। मां ने तो परसोंवाली चिट्ठी में किसी युवती के बारे में फिर प्रस्ताव रक्खा था, लेकिन पुष्पा जो दिल में घर किए बैठी थी। यद्यपि पुष्पा से उनका पत्रव्यवहार तक न था, उससे उन्हें कोई खास उम्मीद बाक़ी न थी, उसे वे हमेशा के लिए गँवा चुके थे, पर क्या उसकी मधुर स्मृति को हृदय से निकाल फेंकना आसान बात थी? फिर, पुष्पा के प्रेम पर इस तरह अपना जीवन न्यौछावर कर देने में उन्हें जो सुख, जो आत्म-तृप्ति मिलती थी क्या वह किसी दूसरी से शादी करके घर बसाने में नसीब हो सकती थी? अब्दुल भले ही मालकिन मालकिन चिल्लाता रहे। उसकी तो आदत ही है। किसी के दिल की लगी को वह क्या जाने....आह! आठ साल बाद उनकी आंखें आज पुष्पा को देखेंगी! आठ साल! आठ शुष्क निरर्थक साल....

'रोमियो-जूलियट' पढ़ाते पढ़ाते प्रोफ़ेसर साहब कहीं और निकल गए थे; और बड़ी देर बाद--जब आगे वाली लड़कियों की वह क़तार मुंह दबाए हँसने लगी थी--उन्हें अपनी दशा का भान हुआ था। अच्छा हुआ असली राज़ विद्यार्थियों से छिपाए रखने के हेतु कॉलेज पहुँचते ही उन्होंने सिरदर्द का बहाना कर दिया था, वरना आज उनकी बड़ी फ़ज़ीहत होती। ऊबकर बार बार वे घड़ी देखते; पर कम्बख़्त कांटा भी आज, न जाने क्यों, बग़ावत करने पर आमादा हुआ जा रहा था। आखिर बेचैन होकर आखिरी घंटे में उन्होंने क्लास को छुट्टी दे दी और तेज़ी से घर को रवाना हो गए।

बरामदे में पहुँचते ही प्रोफ़ेसर साहब भाँप गए, अब्दुल पुलाव बना रहा है। उसके हाथ में भी ग़ज़ब का जादू था। जब वह खाना बनाता, सारा मकान महक उठता।

"हुज़ूर, टेलीफ़ून आया था," नई जाकिट की जेब में हाथ डाले अब्दुल ने खबर दी।

"किसका ?"

"मालकिन का—सुबहवाली।"

"क्या कह रही थीं ?" प्रोफ़ेसर साहब घबराए कि कहीं आने का इरादा न बदल दिया हो।

"कुछ नहीं, आप को पूछ रही थीं, सरकार। मैंने कहा, कालिज गए हैं। बोलीं, कोई ख़ास बात नहीं। कह देना हम शाम को छे बजे आएँगे।"

प्रोफ़ेसर साहब ने संतोष की एक सांस ली। "अच्छा, अब्दुल, खाने में कितनी देर है ?" उन्होंने पूछा।

"टाइम है, हुज़ूर। अभी तो साढ़ेचार भी नहीं हुए। मैंने पानी निकाल रक्खा है; आप जाइए, नहाइए-धोइए; मैं सब बन्दोबस्त किए देता हूँ। आठ बजे टेबल पर आप को खाना हाज़िर मिलेगा। आप फ़िक्र न करें, सरकार। आज वो खाना खिलाऊँगा अपनी मालकिन को, हुज़ूर, के वो भी याद करेंगी इस ग़ुलाम को।"

प्रोफ़ेसर साहब जल्दी से तैयार हो गए। कमरे की चीज़ों को अब्दुल ने पहले ही ठीक-सँवार कर रख दिया था; पर फिर से यहां-वहां उनमें हेरफेर किए बिना उनकी तबीयत न मानी। पुष्पा आ रही थी आज। अभी थोड़ी देर में वह यहीं होगी। शिव के घर में, शिव के साथ। ओह, पुष्पा !....खिड़की के पास खड़े हो नीचे सड़क पर आने-जानेवाली मोटरों को वे देखने लगे। कई बार कई मोटरें उनके मकान के पास आकर रुकीं और कई बार उनका दिल उछल पड़ा, मगर पुष्पा उन मोटरों में न थी।

सहसा कमरे में, अपने पीछे, किसी के पैरों की दनदनाहट सुन शिवकुमार ने पलटकर देखा। पति तथा चार बच्चों से घिरी हुई पुष्पा हँस रही थी। हँसी तो पुष्पा की ही थी पर वह कितनी बदल गई थी ! कितनी मुटा गई थी ! उसे तो पहचानना भी अब मुश्किल था। ओह ! क्या

यह वही पुष्पा थी ? . . . .शिव की आंखों के आगे लाल, पीले, नीले और बैंगनी रंग नाचने लगे। उन्हें ऐसा भास हुआ मानो उनका दिल बन्द हुआ जा रहा है। छँटते हुए अन्धकार में उन्होंने देखा, पुष्पा अपने पति से उनका परिचय करा रही थी। "मेरे पति, उमाशंकर। और ये हैं शिवकुमार माथुर। छुटपन में हम लोग बहुत झगड़ते थे; है न, शिव ?"

शिवकुमार सम्हल रहे थे। उमाशंकर ने उनसे हाथ मिलाया।

"मेरे बच्चों से नहीं मिलोगे ?" पुष्पा कह रही थी। "यह है दयाशंकर।"

"सबसे बड़ा ?" शिवकुमार ने आखिर ज़बान खोली।

"हां; और यह स्वरूपरानी। घर पर हम लोग इसे बिट्टन कहते हैं। नमस्ते करो, बेटा; चाचा से नमस्ते करो। यह है रमाशंकर-- बड़ा शरीर है। देखो न, हड्डी तोड़कर बैठा है। और चढ़ोगे अब दीवार पर ?"

अपने मन की दुर्दशा पर परदा डालते हुए शिवकुमार एक बनावटी हँसी हँसे। "फिर क्या कहा डॉक्टर ने ? एक्स-रे लिया था ?" उन्होंने पूछा।

"हां, कहता है, रेडिअस का फ़्रैक्चर है," पुष्पा के पति ने जवाब दिया। "सेट करके प्लैस्टर ऑफ़ पैरिस बांध दिया है।"

"कहता है, पन्द्रह दिन में हड्डी जुड़ जाएगी," पुष्पा बोली।

"अरे, हां, और इनका नाम तो हमें बताया ही नहीं," पुष्पा की उँगली थामे हुए बच्चे की ओर इशारा करते हुए शिवकुमार ने पूछा।

"विद्याशंकर। यह मेरा लाल बड़ा अच्छा है।"

"तो, कुल जमा चार !" शिवकुमार ने मुस्कुराते हुए कहा। "उमाशंकर साहब को मैं बधाई देता हूँ।"

उमाशंकर और पुष्पा दोनों हँस पड़े। न जाने क्यों पर शिव को जान पड़ा पुष्पा पांचवे को भी कहीं छिपाए हुए है।

बच्चे निस्संकोच कमरे में घूमने-फिरने लगे। सबसे छोटा, बीच की मेज़ पर से ऐश-ट्रे उठाकर, क़ालीन पर जा बैठा और उससे खेलने लगा।

दरवाज़े की आड़ में कुछ आहट सुनकर शिवकुमार ने पूछा : "चाय मँगवाऊँ ? या कोल्डड्रिंक लीजिएगा ?"

"जी नहीं ; अभी हम लोग लेकर ही चले थे। शुक्रिया," पुष्पा के पति ने कहा।

शिवकुमार को बात करने का कोई विषय नहीं मिल रहा था। और बात करे भी तो किससे ? पुष्पा अब वह पुष्पा नहीं रही थी कि जिसके साथ कभी घंटों बीत जाते थे और मालूम होता था पल भी नहीं गुज़रा। आठ साल पहले के घनिष्ट प्रेमी आज कितने अपरिचित से बैठे थे ! शिवकुमार ने उठ कर लाइट जलाया। ओह ! पुष्पा के हाथ कितने मोटे हो गए हैं ! ठोढ़ी पर भी मांस लटक आया है !

"क्या किराया है, शिव, इस फ़्लैट का ?" पुष्पा ने पूछा।

"पचपन। ज़्यादा है ?"

"नहीं जी," उमाशंकर ने कहा, "बिलकुल नहीं। कितने कमरें हैं ?"

"कमरे ? यह ड्राइंगरूम, एक बेडरूम, व्हरांडा, वह बालकनी, एक बाथरूम और एक किचन--काफ़ी है एक बैचलर के लिए," शिव-कुमार ने मुस्कुरा कर कहा। पुष्पा ने आंखें नीची कर लीं ; मगर उसके गालों पर लाली न दौड़ सकी। वह अब फूटी हुई ढोलक के समान थी जो थाप पड़ने पर भी नहीं बजती।

मालकिन को देखने की प्रबल इच्छा से अब्दुल, बरामदे में जाने के बहाने, कमरे में से होता हुआ निकला। लेकिन शायद वह अपनी मालकिन को नहीं देख पाया, तभी तो उसकी निगाह पुष्पा पर न रुककर चारों तरफ़ भटकती रही। थोड़ी देर में वह फिर लौटा। प्रोफ़ेसर साहब

ने देखा उसकी आंखें उनसे पूछ रही थीं : 'मालकिन कहां हैं, सरकार ?' वे बस दिल मसोसकर रह गए। नज़र फेरकर उन्होंने पूछा : "रिकॉर्ड सुनिएगा ?"

सारे बच्चे ग्रामोफ़ोन घेरकर रिकॉर्ड पर टूटे पड़ने लगे। रमा, पट्टी में बँधा हुआ अपना टूटा हाथ लिए, दया से उलझ पड़ा। बिट्टन घबराकर रो उठी। विद्या हँस हँसकर अपने छोटे हाथों से ताली बजाने लगा। आंखों के आगे से 'इलस्ट्रेटेड वीकली' हटाते हुए उमाशंकर ने अपनी स्त्री की ओर देखा।

"मेरी तरफ़ क्या घूर रहे हो ; उठकर उन्हें चुप कराओ न," पुष्पा ने धीमे से पति को झिड़की दी। उमाशंकर उठ गए।

ग्रामोफ़ोन के बाद रेडिओ बजाया गया। उसके बाद मौसम पर चर्चा छिड़ी। मौसम के बाद बच्चों की शरारतों का ज़िक्र रहा। और उसके बाद देश की राजनैतिक स्थिति पर बात पहुँची।

लाचार होकर, समय से पहले ही, प्रोफ़ेसर साहब ने अब्दुल को खाना लगाने का हुक्म दे दिया। अब्दुल मन में खीज उठा। तीन आदमियों का खाना बनाने के लिए उससे कहा गया था और यहां थे आधा दर्जन। उसे तो मालकिन का इन्तजार था और यहां कोई और ही आ धमके। यह सोचकर कि प्रोफ़ेसर साहब ने मजाक़ किया होगा आख़िर वह चुपचाप काम में जुट गया।

टेबल पर बड़ा शोर रहा। शिवकुमार को कोई चीज़ अच्छी न लगी। पुलाव में ख़ुशबू ज़्यादा थी, स्वाद कम। सबके दरमियान बैठी हुई पुष्पा ठीक ऐसे मालूम हो रही थी जैसे कि कोई बड़ी सी मुर्ग़ी अपने चूज़ों पर पंख फैलाये बैठी हो। उमाशंकर और शिवकुमार उसके दो बड़े चूज़े थे....उफ़ ! औरतें भी किस बुरी तरह मुँह चलाकर खाती हैं ! आठ साल पहले का वह नाज़ुक-सा प्यारा तिल अब पुष्पा के गाल पर, मक्खी के बराबर, एक धब्बा मात्र रह गया था।

प्रोफ़ेसर साहब ने देखा अब्दुल बार बार पुष्पा को और उसकी तसवीर को ताक रहा है। शायद वह इन दोनों में कोई समानता देखने का प्रयत्न कर रहा था। उन्हें सहसा होश आया। उठकर उन्होंने तसवीर पलट दी। 'कहीं पुष्पा के पति की नजर उस पर पहले ही न पड़ चुकी हो!' उन्होंने सोचा। 'बला से।' कनखियों से देखा, उमाशंकर मुस्कुरा रहे थे। पुष्पा खाने में व्यस्त थी।

थोड़ी देर बाद अपने मेहमानों को नीचे मोटर तक पहुँचाकर जब प्रोफ़ेसर साहब सीढ़ियां चढ़ रहे थे, अचानक उनका हाथ पतलून की जेब में पड़ी हुई चिट्ठी पर पड़ा। चिट्ठी मां की थी, जिस में किसी लड़की के लिए उन्हों ने प्रस्ताव रक्खा था।

कमरे में अब्दुल पुष्पा की तसवीर उठाकर ठीक से रख रहा था।

"क्या टाइम हुआ है, अब्दुल ?" प्रोफ़ेसर साहब ने तेज़ी से टेलिफ़ोन पर जाते हुए पूछा।

"नौ-पैंतीस हुआ है, सरकार।"

"अच्छा, देखो, हमारा बिस्तरा तो बांधो जल्दी से। और वह सूटकेस भी भर दो—चमड़ेवाला। चलो जल्दी करो।"

प्रोफ़ेसर साहब ने टेलिफ़ोन पर अपने कॉलेज के प्रिंसिपल से बात की और तीन दिन की छुट्टी ले ली।

अब्दुल मुँह बाये प्रोफ़ेसर साहब को देख रहा था। आज सुबह से ही उनकी सारी हरकतें कुछ अजीब-सी थीं। "क्या मामला है, हुज़ूर ? यह कहां की तैयारी है ?" उसने पूछा।

"घर।"

"क्यों, सरकार, क्यों जा रहे है ? सब ख़ैरियत तो है ?"

प्रोफ़ेसर साहब मुस्कुरा दिए। पुष्पा की तसवीर मेज़ की दराज़ में बन्द करते हुए उन्होंने कहा : "तुम्हारे लिए मालकिन लाने।"

उस्ताद की क़सम

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का वह चौथा दिन था। लाठी, पत्थर और सोडावॉटर की बोतलों का दिल खोलकर इस्तेमाल किया जा रहा था। सरेआम अबलाओं की अस्मत लूटी जा रही थी। सर पटाख़ों की तरह फूट रहे थे। यह उस ज़माने का ज़िक्र है, जब कि शहर में पानवालों की दूकानोंपर सिनेमानर्तकियों की तसवीरों के बजाय पहलवानों की तसवीरें लटका करती थीं। शम्भू तम्बोली की दूकान पर अभी तक कल्लू उस्ताद और उनके शागिर्द, दीना, की तसवीरें दिखलाई देती हैं। किसी वक़्त कल्लू और दीना की शोहरत सारे शहर में थी।

लेकिन इस झगड़े में कोई भाग न लेने की कल्लू उस्ताद ने अपने अखाड़ेवालों को सख़्त ताकीद कर दी थी। बेचारों की रगों में ख़ून उबल रहा था; पर वे करते क्या? गुरु की आज्ञा तो पालन करनी ही थी।

दीना अपने बरामदे में डंड़ पेल रहा था। पसीने से उसके बदन के पुट्ठे चकमका रहे थे। अन्दर के कमरे से औटते हुए दूध की सोंधी ख़ुशबू आकर उसके पेट में भूख की ज्वाला प्रज्वलित कर रही थी। मगर पूरे हज़ार डंड़ निकाले बिना वह उठ नहीं सकता था। दो सौ डंड़ अभी और बाक़ी थे। फुफकारते हुए उसने रफ़्तार और तेज़ कर दी। उसके बदन से पसीने की बूँदें टपक टपक कर धरती पर उसी का आकार बनाने लगीं। दीना गिने जा रहा था: "आठ सौ बारह, तेरह, चौदह. . . ."

इसी समय उसके पड़ोसी, चन्दू, की बहू रोती-चिल्लाती आई और लगी शोर मचाने: "हाय! मैं तो लुट गई. . . .आग लगे तेरी कसरत पर. . . .भगवान उनका सत्यानास करे!" वह दीना की ड्योढ़ी पर धड़ाम-से आ गिरी।

दीना उठ खड़ा हुआ। माथे का पसीना उँगलियों से झटक कर उसके पास आया। देखा, वह ख़ून में लथपथ थी। उसने पूछा : "क्या हुआ, गंगा भाभी ?"

दीना की स्त्री औटाये हुए दूध का लोटा लिए बाहर आई। गंगा की दशा देखकर वह भी सहम गई। गंगा कराह रही थी।

"अरे क्या बात है, बोलेगी भी ? किसने मारा ?"

"बिजली गिरे चण्डालों पर," गंगा ने लड़खड़ाती हुई ज़बान से कहा, "औरत पर हाथ उठाते सरम नहीं आई !"

दीना की स्त्री ने समझ लिया कि मामला क्या है। उसने अपने पति से कहा : "जान पड़ता है, मुसलमानों ने मारा है।"

"कहां चोट आई है, देखें तो ?" दीना ने गंगा को हिलाकर कहा। "काहे को निकली थी मरने के लिए बाहर ? मालूम नहीं, दंगा हो रहा है ?"

गंगा फुफकार कर उठ खड़ी हुई। "चूड़ी पहन ले, चूड़ी ! घर में घुसकर बातें बनाते लाज नहीं आती ?"

"अरे, बताएगी भी कि कहां लगी है, या बकबक ही करती जाएगी ?"

"देख, यह देख," कहकर गंगा ने आंचल हटाकर अपनी छाती दिखला दी। उसका एक स्तन चीर दिया गया था। "देख लिया अपनी फूटी आंखों से ? जा, छिप जा अब अपनी जोरू के लहँगे में।"

गंगा खड़ी न रह सकी। पीड़ा और लाज से उसकी दशा ख़राब हो रही थी। खम्भे को थामकर वहीं बैठने लगी; पर मूर्छित होकर गिर पड़ी।

दीना की आंखों में ख़ून उतर आया। एक अबला ने आज उसकी ताक़त को धिक्कारा था। उसकी भुजाएँ फ़ड़क उठीं। आंधी की तरह अन्दर लपककर उसने कोने में रखी हुई लाठी उठा ली।

"यह क्या करते हो ?" दीना को रोककर उसकी स्त्री ने कहा।

"हट जा सामने से।" दीना ने झटका देकर अपने को स्त्री से छुड़ा

लिया। दूध का लोटा गड़गड़ाता हुआ सड़क पर जा पहुँचा। "मुझे क़सम है अपने उस्ताद की अगर मैंने आज किसी भी मुसलमान को इस रास्ते से ज़िन्दा जाने दिया—ढेर लगा दूँगा उनकी लाशों का इस सड़क पर।"

लाठी सनसनाता हुआ दूसरे क्षण वह सड़क पर जा पहुँचा। मुसलमानों के दिल कांप उठे। इस राह गुज़रने की उनकी हिम्मत न हुई।

* * *

उधर कल्लू उस्ताद जो मालिश कर के उठे, तो देखते क्या हैं कि एक छोटे-से हिन्दू बालक को मुसलमानों ने घेर लिया है। उनके इकलौते बच्चे को मरे अभी छः महीने भी नहीं हुए थे। उस बालक को संकट में देख, उनके पितृ-हृदयपर आघात पहुँचा, उनके पुरुषत्व पर आक्षेप हुआ। वे दौड़कर भीड़ में जा पहुँचे और उस हिन्दू बच्चे को छुड़ा, मुसलमानों को ललकारकर बोले: "शर्म नहीं आती तुम लोगों को! एक छोटे-से बेक़ुसूर बच्चे पर मर्दानगी दिखा रहे हो!"

"उस्ताद!" एक मुसलमान भीड़ से आगे बढ़कर बच्चे को उनसे अलग करने की कोशिश करता हुआ बोला, "तुम बीच में न पड़ना; वरना अच्छा नही होगा।"

कल्लू उस्ताद ने उसे एक घूँसा रसीद किया। वह दूर जा गिरा। लाठियां उठने लगीं। मगर चट एक की लाठी छीनकर, कल्लू उस्ताद ने पैंतरा बदला और भीड़ को सुनाकर निश्चित रूप में कहा: "हट जाओ तुम लोग मेरे सामने से। सच कहता हूँ, लाशें गिरा दूँगा। मुझे क़सम है अपने उस्ताद की अगर मैंने इस बच्चे को इसके घर सहीसलामत न पहुँचा दिया।"

लोगों को मालूम था कल्लू उस्ताद बात के पक्के हैं। उन्होंने उस्ताद की क़सम खाई थी। उनसे मुक़ाबला करने की किसी की ताब न हुई। उनका लाठी तौलना ही था कि रास्ता साफ़ हो गया।

कल्लू उस्ताद एक हाथ से लड़के को पकड़े और दूसरे में लाठी थामे

'हनुमान गली' में बढ़ चले। मुसलमानों की टोली, तमाशबीनों की नाईं, उनके हमराह हो ली; क्योंकि लोग जानते थे इसी 'हनुमान गली' में दीना रास्ता रोके खड़ा था। हिन्दुओं ने जब देखा कि कल्लू उस्ताद अपने साथ एक हिंदू बालक को सुरक्षित लिए आ रहे हैं, तो उन्होंने तालियों की बौछार कर दी।

पर अपने घर के आगे दीना रास्ता रोके खड़ा था। वह दूर ही से चिल्लाकर बोला। "बस, उस्ताद, रुक जाना वहीं पर।"

कल्लू उस्ताद के कुछ समझ में नहीं आया; वे बढ़ते ही गए।

"उस्ताद, मैं फिर कहे देता हूँ, इस रास्ते न आना आज....उस्ताद—उस्ताद—उस्ताद—"

"यह नामुमकिन है, दीना!" कल्लू उस्ताद मुस्कुराकर बोले। "आज मैंने अपने उस्ताद की क़सम खाई है कि इस बच्चे को अपने हमराह इसके घर तक पहुँचा दूँगा—मुझे जाना होगा।"

"अगर यही बात है, उस्ताद," दीना ने मिन्नत की, "तो उसे मैं पहुँचा देता हूँ; पर आप आज इस रास्ते न जाएँ।"

"मैं अपना क़ौल वापस नहीं ले सकता," कल्लू उस्ताद दृढ़ स्वर में बोले। "मैंने अपने उस्ताद की क़सम खाई है।"

दीना तन गया। "मगर मैंने भी अपने उस्ताद की क़सम खाई है—इस राह आज कोई मुसलमान नहीं गुज़र सकता।"

कल्लू उस्ताद को ताज्जुब हुआ। "जिस उस्ताद की क़सम खाई है वह भी नहीं?" उन्होंने पूछा।

"जी नहीं।"

कल्लू उस्ताद थोड़ा-सा मुस्कुराए और बच्चे को बाजू कर, लाठी सम्हालते हुए बोले: "शाबाश, बेटा, शागिर्द हो तो ऐसा हो। चल, आजा—तू अपना फ़र्ज अदा कर और मैं अपना फ़र्ज़ अदा करूँ।" कल्लू उस्ताद लाठी तान कर आगे बढ़े।

"उस्ताद—उस्ताद—उस्ताद ! मान जाओ, उस्ताद !" चिल्लाता हुआ दीना पीछे खिसकता उनसे आगे न बढ़ने की विनती करता रहा; पर कल्लू उस्ताद न माने। आख़िर लाचार होकर दीना रुक गया और उसकी लाठी जोश में आई। कल्लू उस्ताद की लाठी भी सनसनाने लगी। दोनों पहलवान दो बादलों की तरह उठे और एक दूसरे से जा टकराए।

इन गुरु-चेले की आपस में खटक जाने की ख़बर ज़रा देर में सारे शहर में फैल गई। दर्शकों के रूप में 'हनुमान गली' के अन्दर हिन्दू-मुसलमानों का ख़ासा हुजूम उमड़ आया।

दोनों की लाठियां खटाखट और धबाधब बज रही थीं। दोनों के जिस्म में बिजली की तरह फुर्ती समा गई थी। सड़क बुरी तरह छिली जा रही थी। ख़ून की धाराएँ दोनों के बदन से रवां थीं !

पूरे आध घंटे की घमासान लड़ाई के बाद दोनों बुरी तरह घायल होकर धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़े। लोगों की भीड़ ज़रा पास खिसक आई मगर ज़्यादा आगे बढ़ने को उनकी हिम्मत न हुई। दीना सारी ताक़त लगाकर हाथों के बल उठा और घिसटता, रेंगता कल्लू उस्ताद के अधमरे शरीर के पास पहुँचा और अपना माथा उनके चरणों पर रखकर बोला : "उस्ताद—मुझे—माफ़—कर देना. . . ."

कल्लू उस्ताद भी बल लगाकर उठ बैठे और दीना को गले लिपटाकर बोले : "शाबाश, बेटा ! मुझे तुझपर नाज़ है।"

दीना की आंखें मुँद गईं। दूसरे क्षण कल्लू उस्ताद भी ढुलक पड़े। भीड़ रो रही थी। आख़िरकार उन लिपटी हुई लाशों को जुदा किया गया। हिन्दुओं ने दीना की लाश सम्हाली और मुसलमानों ने कल्लू उस्ताद की। लाशों पर बेतहाशा फूल बरसाए गए। फिर, अँगरेज़ी बाजे के साथ बड़ी धूम-धाम से, हिन्दू-मुसलमानों ने एक साथ मिलकर, 'हनुमान गली' से कल्लू उस्ताद का जनाज़ा और दीना की अर्थी निकाली।

उस दिन से इस शहर में फिर कभी हिन्दू-मुस्लिम फ़िसाद नहीं हुआ।

जल्दी आना

मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ात का ढेर देख कर रमाकान्त कांप उठा। वह सोच रहा था कि ऑफ़िस का काम ख़त्म कर के शाम को घर जल्दी चला जाएगा। छः महीने का असहाय बच्चा और निमोनिया से बीमार स्त्री उसकी आंखों के आगे झूल रही थी। रोज़ वह किसी डॉक्टर को ले जाने की सोचता, मगर वक़्त ही नही मिलता था। सुबह आठ बजे वह घर से थाना स्टेशन के लिए पैदल रवाना हो जाता, तब कहीं साढ़े आठ की लोकल उसे मिल पाती। साढ़े नौ तक वह बम्बई पहुँचता। वहां से बैलर्डपिअर पर अपने ऑफ़िस तक उसे फिर पैदल चल कर जाना पड़ता। अगर दस बजे तक ऑफ़िस पहुंच कर काग़ज़ात को वह तफ़सीलवार न लगा पाता तो ऊपर से टॉमस साहब की झिड़की मिलती। हर रोज़ शाम को छः, साढ़े छः और कभी सात भी ऑफ़िस में ही बज जाया करते। घर पहुँचते पहुँचते नौ हो जाते। 'सात बजे से पहले छुट्टी मिलनी मुश्किल है,' रमाकान्त ने सोचा, और उसका मुँह लटक गया।

घर छोड़ते वक़्त गोमती ने ख़ास कर कहा था: "जल्दी आना; बुख़ार बढ़ता मालूम हो रहा है।"

रमाकान्त ने माथा छू कर देखा तो आग हुआ जा रहा था। "लानत है ऐसी नौकरी पर! आज मैं नहीं जाऊँगा।"

"नहीं, ऐसा न करो। महीनों दर दर भटकने पर तो नौकरी मिली है!....मुझे कुछ नहीं हुआ; दो-चार दिन में अच्छी हो जाऊँगी।"

"गोमती," स्त्री का हाथ अपने हाथ में लेकर रमाकान्त बोला, "मैंने तुम्हें कभी सुख नहीं दिया। जब देखो तब हमें बेकारी या बीमारी घेरे ही रहती है!"

"हिम्मत न हारो। ये दिन भी निकल जाएँगे। जाओ, जल्दी करो। आज तनख़ा भी मिलने वाली है। चले जाओ....घर का किराया देना है....दूधवाला भी चिल्ला रहा है....उठो...."

गोमती की बग़ल में सोया हुआ बच्चा जाग कर रोने लगा। गोमती ने उसे पुचकार कर चुप कराया और रमाकान्त से बोली : "आते वक़्त नन्हें के लिए एक झुनझुना लेते आना।"

रमाकान्त ने आहिस्ता आहिस्ता सिर ऊपर उठाया—ऑफ़िस की घड़ी में पांच बज रहे थे। 'जल्दी आना; बुख़ार बढ़ता मालूम हो रहा है,' उसके कानों में गूँज रहा था। साहब से छुट्टी मांगने के लिए वह उठा, मगर कुछ सोच कर फिर बैठ गया।

"क्या बात है, रमाकान्त ?" पास में बैठे टाइपिस्ट ने पूछा। "आज तुम पड़े परेशान मालूम हो रहे हो !"

"हां, यार, देखो न, पांच बजने को आए और अभी तक इतनी डाक रजिस्टर में चढ़ानी बाक़ी ही है।"

"तो इसमें परेशानी की क्या बात ? यह तो रोज़ का रोना है ! सात बजे से पहले आज मुझे भी छुट्टी नहीं। देखो न, इतनी चिट्ठियां टाइप करनी हैं !"

"सोच रहा था साहब से छुट्टी मांगूँ....घर पर स्त्री निमोनिया से मर रही है, और मैं यहां टॉमस साहब के रजिस्टरों की गर्द झाड़ रहा हूँ—और यह सब चालीस रुपट्टी के लिए !"

"अरे भई, इसी को तो कहते हैं औंधी क़िस्मत।"

"औंधी क़िस्मत की ऐसी-तैसी। मैं तो जाकर छुट्टी मांगता हूँ। देना हो दें, वरना इस्तीफ़ा हाज़िर है।"

रमाकान्त तेज़ी से उठा और सीधा टॉमस साहब के कमरे की तरफ़ बढ़ा। दफ़्तर के तमाम बाबू हैरत में आ, एक दूसरे की तरफ़ देखने लगे।

फिर अन्दर से टॉमस साहब की फटे बांस की सी आवाज़ सुनाई दी—वे बिगड़ रहे थे।

थोड़ी देर बाद रमाकान्त बाहर निकला और अपने टेबल पर पहुँच कर बड़बड़ाता हुआ काग़ज़ात जमाने लगा।

"क्या हुआ, रमाकान्त ?" टाइपिस्ट ने दबी हुई आवाज़ में पूछा।

"वही जो होना था।"

"यानी ?"

"छुट्टी नहीं मिली।"

"फिर ?"

"फिर क्या; आज फिर नौ बजेंगे। भाड़ में जाय ऐसी नौकरी—और टॉमस साहब भी. . . .कोई मरे या जिए, उनकी बला से।"

टाइपिस्ट चुप होकर फिर टाइप करने लगा।

* * *

सात बजे, सूती कोट का फटा कॉलर उलटाता हुआ, रमाकान्त ऑफ़िस से बाहर निकला। बोरीबंदर पर ईरानी होटल के सामने वाले 'स्टॉल' पर आकर वह रुक गया। रोज़ ऑफ़िस आते-जाते उसकी निगाह एक ज़नाने स्वेटरकोट पर पड़ा करती थी, जो उस 'स्टॉल' पर सामने ही लटका करता था; और रमाकान्त हर रोज़ सोचा करता था कि तनखा मिलने पर उसे ख़रीद कर गोमती को देगा। मगर वह इसी ख़याल में रह गया, और उधर शहर में चली हुई ठंडी हवा ने गोमती को धर दबाया। कोई आदमी किसी दूकान पर अगर किसी चीज़ को इसलिए पसन्द कर रखता है कि किसी अवसर पर उसे खरीद कर किसी को भेंट करेगा, और जब ऐसे अवसर पर उसे ख़रीदने वह दूकान पर जाता है, तो अक्सर वह चीज़ बिक चुकी होती है. . . .पर रमाकान्त ने देखा वह स्वेटरकोट अभी तक वैसे ही लटका हुआ है। फ़ौरन उसने मोल किया और दाम चुकाए।

बण्डल बग़ल में दबा कर वह जैसे ही चला, देखा पास में फुटपाथ

पर एक आदमी खिलौने बेच रहा है. . . . "आते वक़्त नन्हें के लिए एक भुनभुना लेते आना," गोमती ने कहा था। रमाकान्त ने एक बड़ा-सा भुनभुना खरीद लिया, और सीधा व्हिक्टोरिया टर्मिनस पहुँचा। मालूम हुआ गाड़ी अभी अभी छूट चुकी है। दूसरी लोकल के लिये आध घण्टे का समय था। थर्ड क्लास पैसेंजरों के लिये बनी हुई गर्द से भरी एक बेंच पर रमाकान्त टूट कर बैठ गया।

* * *

रात के नौ बजे के क़रीब रमाकान्त थाना पहुँचा। घर के पड़ोस में एक कुत्ता बुरी तरह रो रहा था। रमाकान्त के पैरों तले की ज़मीन खिसक गई. . . .

'जल्दी आना; बुख़ार बढ़ता मालूम हो रहा है।' वह एकदम घर के अन्दर लपका। सर्वत्र अंधकार था। कांपते हुए हाथों से उसने जेब से दियासलाई निकाल कर जलाई।

दियासलाई की रौशनी में रमाकान्त ने देखा गोमती की निर्जीव आंखें दरवाज़े की तरफ़ आस लगाए ताक रही थीं, और उसके मृत शरीर पर पड़ा बच्चा स्तन चूस रहा था!

गुलशन

शहर का बच्चा बच्चा गुलशन के नाम से परिचित था। हर साल जब गर्मी आती और पश्चिमवाली सीधी, लम्बी, लाल सड़क पर बहुत दूर धूल उड़ती दिखाई देती, शहरवाले भांप जाते कि बलूचियों का वह क़ाफ़िला फिर आ रहा है। मारे ख़ुशी के लोगों की बाछें खिल उठतीं। दूसरे दिन से शहर के नौजवानों की टोली सुबह, शाम घूमते घूमते पड़ाव पर जा पहुँचती और घण्टों वहां चक्कर काटा करती।

क़ाफ़िले के बूढ़े सरदार करामतख़ां को अपनी गुलशन पर नाज़ था। उसके दूसरे साथी हर रोज़ अपने ख़ुदा से यही दुआ मांगा करते कि उन्हें भी गुलशन जैसी ही बिटिया नसीब हो, जो अपने हुस्नोजमाल पर लोगों को फ़िदा कर उन्हें अपने झोले का माल ख़रीदने पर मजबूर करे।

हर साल की तरह इस बार भी जब गर्मी आई और पश्चिमवाली उस सीधी, लम्बी, लाल सड़क पर बहुत दूर धूल उड़ती दिखाई दी, शरद जान गया कि शहर पर बहार आ रही है। उसकी आंख फिर किताब पर न जमी। वह एकटक खिड़की से बाहर, शहर की ओर बढ़ते हुए क़ाफ़िले को देखने लगा....मुर्ग़ियों के पिटारे, बरतन, चटाई, बांस, तम्बू, रस्सी वग़ैरा से लदी हुई काली काली भैंसें; सवारी और गाड़ियों से लदे हुए बड़े बड़े घोड़े; और भौंकते हुए ख़तरनाक कुत्ते शरद की खिड़की के पास से गुज़रने लगे।

आगेवाली गाड़ी में घोड़ों की बाग लिए गुलशन बैठी थी और बाज़ू में उसका बाप, करामतख़ां, था। पीछेवाली गाड़ियों में पांच, छः मर्द, पांच, छः स्त्रियां और लगभग डेढ़ दरजन बच्चे थे।

शरद ने गुलशन की तारीफ़ बहुतों से सुनी थी परन्तु देखा आज ही

पहली बार था। जब से वह इस नीरस शहर में स्कूल मास्टर होकर आया है उसे सिवाय स्कूल के विद्यार्थियों और उनकी पुस्तकों के और किसी वस्तु से वास्ता नहीं हुआ। शरद स्कूल में हिन्दी पढ़ाया करता था। उसे साहित्य से ख़ास लगावट रही थी। आठ महीने पहले तक अपने कॉलेज-जीवन में वह कविता भी किया करता था। उसे याद है, उसकी 'अर्थी' शीर्षक कविता को देख कर एक दिन प्रोफ़ेसर शुकुल ने कहा था: "शरद, अगर तुम कविता की ओर विशेष ध्यान दो तो संभव है कुछ नाम पैदा कर लो—तुम्हारी कविता में जान है।" मगर जिस दिन से शरद ने कॉलेज छोड़ा और परदेश के इस शहर में आकर मास्टरी कर ली, कविता उसके पास तक न फटकी। बहुत मरतबा घटाएँ घिरीं, बहुत-सी रंगीन संध्याएँ आईं, आकाश-गंगा कई बार निखरी, दूज का चांद कई दफ़ा तना, आंगन में लगी हुई जूही बार बार महकती रही, पर, गए वक़्त की तरह, शरद का पुराना जोश न लौटा।

* * *

उस दिन स्कूल की छुट्टी थी। झोलदार आराम-कुर्सी पर बैठा हुआ शरद अंगरेज़ी का कोई उपन्यास पढ़ने में मग्न था जब कि दुपहरी के उस सन्नाटे को चीरती हुई नाज़ुक आवाज़ में किसी ने पूछा:

"लेगा, हुज़ूर....हुज़ूर, कुछ लेगा?"

गुलशन की आवाज़ शरद के कानों ने आज पहली बार सुनी। परदा हटाता हुआ वह बरामदे में निकल आया।

धूप में तपती हुई ज़मीन पर गुलशन खड़ी थी।

"कुछ ख़रीदेगा, हुज़ूर?"

"क्या लाई हो?....दिखलाओ।"

गुलशन ने बरामदे में प्रवेश किया और कंधे से लटका हुआ चमड़े का बैग उतारती हुई फ़र्श पर बैठ गई। उसका वह छींट वाला लहँगा बेशुमार शिकन खाकर फैल गया।

गुलशन तरह तरह के चाकू, क़ैंची, ताले, सरौते, नक़ली मोतियों की लड़ें, मुलम्मा की हुई अँगूठियां वग़ैरा वग़ैरा निकाल निकाल कर दिखाने लगी। मगर शरद की नज़र इधर-उधर ही होती रही. . . .आख़िर नाखून काटने की छोटी-सी क़ैंची को लेकर उसने पूछा :

"इसका क्या दाम है ?"

"सवा रुपया।"

बलूचियों की दूनी, चौगुनी क़ीमत बताने की आदत से शरद वाक़िफ़ था। वह जान गया कि आठ, दस आने से ज्यादा उसकी क़ीमत नहीं हो सकती। वह हँसने लगा।

"आप क्या देगा, हुज़ूर ?"

"तुम्हीं ठीक बतला दो।"

"हम तो बोल दिया।" गुलशन ने भोली-सी सूरत बना ली।

शरद ने अन्दर से पैसे लाकर गुलशन को दे दिए। गुशलन ने दो बार गिने—एक रुपया चार आने थे। उसकी चुहल नीली आंखों को बड़ा ताज्जुब हुआ और वे पैसों पर से हट कर शरद के चेहरे पर जम गईं. . . . शरद मुस्कुरा रहा था।

"तुमने आज हमें लूट लिया !"

"नहीं हुज़ूर, बराबर बोला हम, ख़ुदा क़सम। और क्या दिखाएगा ?"

"बस, आज के लिए काफ़ी है। दुबारा आओगी तब और लेंगे।"

गुलशन अपना सामान बटोरने लगी। उसने सर पर निहायत खूबसूरत रेशमी रूमाल बांध रक्खा था। दो काली काली चोटियां उसके सीने पर, जो क़मीज़ के अन्दर से उभरा पड़ रहा था, लहरा रही थीं। कान में पड़े हुए दो गोलाकार बाले उसके सर की हरकत के साथ डोल रहे थे। गालों पर पसीने की पतली-सी रेखाएँ खिंच आई थीं. . . .शरद को गुलशन की ख़ूबसूरती की तौहीन होते देख उस पर तरस आया।

"थोड़ा पानी मिलेगा, हुज़ूर, पीने को ?"

"हां, हां, ज़रूर; आओ, अन्दर चली आओ; यहां सख़्त गर्मी है।"

गुलशन अपना बैग लिए शरद के साथ उसके कमरे में चली आई। शरद ने उसे बैठने के लिए एक कुर्सी दे दी और आप थोड़ी देर में दूसरे कमरे से कांच के एक गिलास में ताज़े नीबू का शरबत बना लाया। शरद से छिपी हुई हमदर्दी पाकर उस ख़ानाबदोश युवती का दिल उस कमरे की ठंडक छोड़ कर बाहर निकलने को न हुआ। पर पेट की आवाज़ दिल की आवाज़ से ज़्यादा तेज़ होती है....बैग कंधे पर लटका कर वह उठ खड़ी हुई और एहसानमन्द आवाज़ से बोली:

"हुज़ूर बड़ा मेहरबान है!"

* * *

गुलशन अब शरद के घर अक्सर आया करती और हर बार उसे कुछ न कुछ दे जाती। शरद ने कभी मोल नहीं किया। गुलशन को नीबू के शरबत की आदत-सी पड़ गई। शरद कभी भूल जाता तो वह ख़ुद मांग बैठती।

एक दिन गुलशन की निगाह चाक़ू, क़ैंची वग़ैरा के उस ढेर पर गई जो शरद के कमरे में, मेज़ के नीचे, दिन-ब-दिन बढ़ता चला आया था। गुलशन उस ढेर को देख कर शर्मा गई।

"आज क्या लाई हो, गुलशन?" शरद ने पूछा।

"हुज़ूर को कुछ नहीं देगा अब—आप तो मोल भी करना नहीं जानता!"

"मोल करना जानता हूँ, गुलशन," शरद ने हँस कर कहा, "लेकिन तुमसे मोल करने को दिल नहीं होता।"

शरद का यह ख़याल कि यह बलूची लड़की शायद उसका मतलब न समझ पाएगी ग़लत निकला। गुलशन ने शर्मा कर सर झुका लिया।

यह वही आज़ादरौ गुलशन थी जो जब शहर की गलियों से गुज़रती अपने हमराह नवयुवकों की एक भीड़ लिए होती। वह लोग इससे मज़ाक़

और थोड़ी छेड़-छाड़ भी करते। गुलशन हँसती हुई उनसे मुक़ाबला करती, और उधर, धीरे धीरे उसका बैग ख़ाली होता जाता। पहले ही से वह चौगुनी क़ीमत बताती और अक्सर मुँह मांगा दाम लेती। कभी-कभी मनचलों की तबीयत छेड़-छाड से भी कुछ आगे बढ़ने को होती; लेकिन उसकी कमर में लटका हुआ पीतल के दस्तेवाला चमकीला चाकू देख कर उनकी छाती दहल जाती....और आज उसी गुलशन ने शरद को कुछ भी बेचने से साफ़ इनकार कर दिया !....शरद ने उसके सर को रूमाल पर से ही चूम लिया। गुलशन की आंखें चमकने लगीं। वह उठ खड़ी हुई। हाथ उसका चाकू पर था। शरद के होंठ गुलशन के गुलाबी गालों पर उतर आए....गुलशन की आंखें मुँदने लगीं, हाथ चाकू पर से खिसकने लगा....

उस परदेशी ख़ानाबदोश युवती की छातियों में सर छिपा कर आज शरद बहुत रोया। गुलशन में उसे एक दुनिया नज़र आई। उसका सारा सूनापन और अभाव दूर होने लगा....आज ही शरद के जीवन ने एक नई करवट ली; और गुलशन के जीवन ने भी।

* * *

स्कूल के हेड मास्टर मि० झा ने शरद को बुलाकर व्यंग्य भरे लहजे में कहा :

"मि० शरद, आप ने सुना, शहर में आप की क्या तारीफ़ हो रही है ?"

शरद एक ऐसी दुनिया में रहता था जहां उसे दुनिया वालों की ख़बर जल्दी नहीं पहुँचती थी।

"जी नहीं," उसने सिर्फ़ इतना ही कहा।

"आप के घर पर गुलशन नाम की कोई ख़ानाबदोश छोकरी आया करती है ?"

"जी हां।"

"अक्सर ?"

"जी ।"

"आप का उससे कोई ताल्लुक़ है ?"

शरद चुप रहा ।

हेड मास्टर ने मेज़ पर ज़ोर से हाथ मारकर कहा : "इसका क्या नतीजा होगा जानते हो ?"

शरद फिर चुप रहा ।

"तो फिर मुझे कुछ नहीं कहना है । आप जा सकते है ।"

*　　　　　　*　　　　　　*

"हम जा रहे हैं, गुलशन," शरद ने इस तरह कहा मानो वह दुनिया से कूच कर रहा हो ।

"कहां, हुज़ूर ?"

"मालूम नहीं. . . .हम नौकरी से ख़ारिज कर दिए गए ।"

"क्यूँ ?"

"क्योंकि तुम हमारे घर दिन दहाड़े आया करती हो ।" शरद धीरे-धीरे हँसने लगा—मगर वह हँसी बनावटी थी ।

गुलशन ने शरबत नहीं पिया । गिलास वैसा ही रख दिया ।

"हुज़ूर !"

शरद ने गुलशन की ओर देखा ।

"आप का वतन कहां है ?"

"वतन !"

"आप का मकान— आप का मां-बाप कहां रहता ?"

शरद ने हाथ से गुलशन की चोटी छोड़ दी और ऊपर की ओर इशारा कर के कहा : "वहां ।". . . .फिर वह मेज़ के नीचे से चाकू, क़ैंची, तालों का ढेर बटोर लाया और गुलशन के बैग में रखने लगा ।

"इन्हें लेती जाओ, गुलशन, ये मेरे तो किसी काम के हैं नहीं । इन्हें बेच कर कुछ पैसे तुम और बना सकती हो ।"

गुलशन चुपचाप देखती रही। शरद फिर उसके पास आकर उसकी चोटियों को थाम कर बोला:

"हमें भूल तो नहीं जाओगी, गुलशन ?"

गुलशन की आंखें डबडबा आईं।

"इसे रख लो," शरद ने दस रुपये का एक नोट उसे पकड़ाते हुए कहा।

मगर नोट लेने से गुलशन ने साफ़ इनकार कर दिया।

"हुज़ूर, हम दिल देखता है, पैसा नहीं चाहता...."

शरद ने उसकी चोटियों को धीरे से अपनी ओर खींच कर कहा: "हमारे साथ चलोगी ?"

"सच बोलता, हुज़ूर ?"

गुलशन के कंधे से फिर बैग खिसक गया।

"हां, मगर फिर तुम लौट न सकोगी। सोच लो अच्छी तरह.... चलती हो ?"

गुलशन खिल उठी। "हुज़ूर!....हुज़ूर बड़ा अच्छा है.... ख़ुदा जानता आप गुलशन को कितना अज़ीज़ है!...."

शरद ने देखा उसकी तरह गुलशन भी दिल रखती है। उसने ख़्वाब में भी नहीं सोचा था कि उसके लिए वह अपना बूढ़ा बाप, अपना क़ाफ़िला, अपनी मन मुख़्तारी, अपनी आज़ाद ज़िंदगी इस तरह ठुकरा देगी। मारे ख़ुशी के वह गुलशन से लिपट गया...फिर उसका हाथ शरबत के गिलास की तरफ बढ़ा जिसे उठा कर उसने गुलशन के याक़ूती होंठों से लगा दिया।

"देखो, गुलशन, तुम आज से हमें 'हुज़ूर' न कहा करो।"

गिलास खाली करके गुलशन ने मुस्कुराते हुए कहा:

"तब क्या कहेगा, हुज़ूर ?"

* * *

उसके बाद कई दिनों तक लोगों ने करामतख़ां को पागलों की तरह नंगा छुरा लिए गुलशन को ढूँढ़ते हुए गली गली फिरते देखा....

अंतिम भेंट

कई दिनों की लगातार झड़ी के बाद आज शाम को बादल खुले थे। भीनी-भीनी सिक्त सुरभि हलके-हलके बह रही थी। सूर्य की गीली किरणें पेड़-पौधों की कोमल पत्तियों पर बिखर रही थीं। आंगन में लगे हुए गुलाब की नाज़ुक टहनी पर एक नन्ही-सी पीली चिड़िया फुदक फुदक कर चहक रही थी। क्षितिज में अपने सातों रंग उँड़ेले इंद्रधनुष निखरा हुआ था। मैं बरामदे में काग़ज़ और क़लम लिए, एक आराम-कुरसी पर बैठा हुआ अपनी नई कहानी के लिए कोई कथानक सोच रहा था। वर्षा ऋतु के वातावरण में एक लोच होता है, जो लेखक को हमेशा प्रेरणा दिया करता है। परन्तु वही लोच अगर अधिक मात्रा में हुआ, तो लेखक कभी कभी गुमशुम पुतला बनकर रह जाता है। फिर उसकी कल्पना काम नहीं करती, लेखनी रुक जाती है। प्रकृति के लावण्य पर मुग्ध हो, उस महान कलाकार की अप्रतिम कलाकृति पर हृदय वारकर लेखक मन ही मन उस निर्माता की स्तुति करने लगता है। उस स्तुति को संसार की कोई भी भाषा शब्दों में नहीं बांध सकती। तुच्छ, असहाय, अबोध मानव को अपने शक्तिशाली, सर्वज्ञानी, सर्वव्यापी विधाता की इस मौन, अर्थहीन स्तुति में जो असीम आनंद प्राप्त होता है, वह फिर उसे कहीं भी नहीं मिलता—बेहतरीन कहानी के लिखने में भी नहीं।

मैंने बार बार सिर खुजाया, बार बार क़लम उठाई, परन्तु कोई विषय नहीं सूझा। सूझता भी कैसे जब कि मेरे सारे अवयव अपने अनिर्दिष्ट कलाकार को उस इन्द्रधनुष की तरह साष्टांग दंडवत करने में लीन थे। नौकरानी को पुकार कर उससे मैंने कॉफ़ी लाने को कहा और पैड पर अपनी भावी कहानी के संभव शीर्षक लिखने का प्रयत्न करने लगा, क्योंकि कभी

कभी शीर्षक सोचते सोचते विषय भी मिल जाया करता है। परन्तु कुछ ही देर में मैंने देखा कि मेरी क़लम ने सारा पन्ना आदमियों की शक्लें बना बना कर भर दिया है और मेरा मुँह, विद्या र्थी-जीवन में कभी किसी नौटंकी में सुनी हुई, कोई पुरानी फड़कती हुई चीज़ गुनगुना रहा है। ये दोनों मेरी बहुत पुरानी आदतें थीं, जो मुझे बेकार देख, मुझ पर हावी हो जाती थीं, और तब मैं समझ जाता था कि लिखने की कोशिश करना बेकार है, इस वक़्त दिमाग़ बिल्कुल नहीं चलेगा। अतएव काग़ज़, क़लम तिपाई पर रखकर मैंने ज्योंही सिगरेट जलाई तो देखता क्या हूँ कि सामने, दूर सड़क पर, सरजू प्रसाद तिवारी चले आ रहे हैं।

तिवारी जी से मेरी पुरानी मुलाक़ात थी। किसी ज़माने में वे मेरे पड़ोसी थे। सेक्रेटेरिएट में क्लर्की करते करते जब कुछ पैसा जमा हो गया, तब स्टेशन के पास थोड़ी ज़मीन लेकर छोटा-सा दो मंज़िला मकान बनवाकर मां और पत्नी के साथ वे वहीं रहने चले गए। ऊपर के हिस्से में खुद रहते थे और नीचे का किराए पर दे रक्खा था। तिवारी जी उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे, परन्तु वे उन मनुष्यों में से थे जिनपर सदा युवावस्था तारी रहती है। कान के पास के छिटके हुए बाल तथा आंखों के छोर पर पड़ी हुई रेखाओं के लिए उनकी उम्र उतनी जवाबदेह नहीं थी, जितनी कि उनकी स्त्री। वह बांझ थी—और फिर ऊपर से मिजाज था शक्की। घर में एक मिनट भी चैन मिलना तिवारी जी के लिए दुश्वार हो गया था। पर इतने वर्षों के सहवास से उन्हें घर के कां-भों की आदत-सी हो गई थी। देवीजी दिन भर त्योरी चढ़ाकर चखचख करतीं और तिवारी जी गालों में पान दबाए हँसा करते। जब देवीजी का पारा ज़्यादा चढ़ जाता, तो चुपके से छड़ी उठाकर वे अपने किसी दोस्त के घर ग़प्पें छांटने चल देते।

"अमा, क्या कर रहे हो अकेले छप्पर में बैठे ?" उन्होंने आते ही मुझसे पूछा।

"आइए, तिवारी जी," बग़ल की कुरसी पर उन्हें बिठाते हुए मैंने

कहा। "अपनी नई कहानी के लिए प्लॉट सोच रहा था। बहुत दिनों बाद दर्शन हुए। सब ख़ैरियत तो है ?"

'सब खैरियत तो है ?' में छिपा हुआ इशारा समझ तिवारी जी मुस्कुराए।

"हां, सब ख़ैरियत ही है। क्रॉनिक बीमारियों में चिंता की कोई बात नहीं हुआ करती," उन्होंने कहा।

नौकरानी कॉफ़ी का ट्रे लिए बाहर आई और हमारे सामने मेज़ पर रख गई।

"अमा, आज के दिन—ऐसे सुहावने समय में भी तुम क्या कॉफ़ी ही पियोगे ?" तिवारी जी ने शिकायत की। "आज तो छननी थी भंग। भंग से छलकता हुआ कांसे का कटोरा होना था और दुलीचंद हलवाई की दूकान के होने थे पेड़े।"

"आप तो जानते हैं, तिवारी जी, मैंने आज तक भंग कभी छुई नहीं, पर कहिए तो मिठाई मँगवाई जाय ?"

"ना, अब रहने दो। आज कॉफ़ी ही सही। यार, तुम भी रहे निरे बुद्धू ही। अच्छा, अब हमारे लिए हुक़्क़ा तो भरवाओ। बहुत दिन हुए तुम्हारे यहां का लखनऊ वाला ख़मीरा पिए।"

इसी समय नौकरानी हुक़्क़े की चिलम फूँकती बाहर आई।

"लीजिए," मैंने हँसकर कहा, "तिवारी जी की ख़ातिरदारी करना बेला खूब जानती है।"

"भाई, मान लिया हमने, क़ाज़ी जी के घर के चूहे भी नमाज़ी होते हैं। कहो, बेलारानी, कैसी हो ?"

हुक़्क़ा रख, बेला शर्मा कर अन्दर भाग गई। शहर भर में शायद बेला से ज़्यादा काली चुड़ैल दूसरी न होगी। हमारी श्रीमती जी ने इसे ख़ास तौर पर चुनकर रक्खा था।

प्यालियों में मैंने कॉफ़ी उँड़ेली और ट्रे तिवारी जी की ओर बढ़ा

दिया। प्याली उठाने के लिए वे ज्योंही झुके उनके कोट की जेब से सोने की चेन में लगी हुई एक लेडीज़ रिस्टवॉच निकल कर नीचे लटक गई। इस रिस्टवॉच को मैं उनके पास कई मरतबा देख चुका था। हर व्यक्ति में कुछ न कुछ अद्भुत आदतें होती हैं। ज़नानी हाथ-घड़ी को जेब-घड़ी बनाए कोट में रखना मैं तिवारी जी की एक अद्भुत आदत ही समझे हुआ था और इसीलिए दूसरें दोस्तों की तरह मैंने उनका कभी मज़ाक़ नहीं उड़ाया। मगर आज सोने की उस नाजुक-सी खूबसूरत रिस्टवॉच को अपनी आंखों के इतने पास ही झूलते देख मेरे मन में सहसा कुछ कौतूहल हुआ कि आख़िर माजरा क्या है, जो सेक्रेटेरिएट का एक मामूली क्लर्क सदा अपने साथ इतनी क़ीमती ज़नानी घड़ी लिए फिरता है। तिवारी जी के कान में अगर क़लम या पेंसिल खुँची होती, तो मैं उस बात को समझ सकता था, मगर उनका लेडीज़ रिस्टवॉच अपनी छाती से लगाए रखना मेरी कल्पनाशक्ति के एकदम बाहर था।

"तिवारी जी, एक बात पूछूँ, बताइएगा ?" मैं कह ही तो बैठा।

"पूछो ?"

"आप हमेशा यह ज़नानी घड़ी क्यों साथ लिए फिरते हैं ? भाभी जी की दी हुई तो यह नहीं जान पड़ती।"

तिवारी जी का चेहरा अचानक गम्भीर हो गया। प्याली ख़ाली कर उन्होंने हुक़्के की नै उठा मुँहनार होंठों के बीच ली। दो-एक कश लेकर फिर कुछ मोटी-सी आवाज़ में बोले: "किसी की यादगार है यह। किसी की अंतिम भेंट।" घड़ी हाथ में लेकर वे उसे बड़े ग़ौर से देखने लगे—मुझे साफ़ जान पड़ा कि उस अष्टकोनी घड़ी के नन्हे-से कांच पर तिवारी जी की आंखों को कोई तसवीर अवश्य दिखाई दे रही है। एक क्लर्क के जीवन में भी 'किसी की यादगार,' 'किसी की अंतिम भेंट' जैसी कोई चीज हो सकती है, इस बात ने मुझे अचंभे में डाल दिया।

"किसकी अंतिम भेंट ?" मैंने कुछ ज़्यादा उत्सुकता से पूछा। "अगर

आप को कोई एतराज़ न हो तो मैं इस रहस्य को जानना चाहूँगा। बहुत मरतबा जी में आया कि आप से पूछूँ मगर पूछ नहीं सका।"

"मुझे तो कोई एतराज़ नहीं," तिवारी जी ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा; "पर सुनकर तुम्हारा मन ख़राब हो जायगा। दूसरे, तुम ठहरे कहानीकार; तुम्हारे सामने कुछ बोलते भी तो ज़बान रुकती है। मगर टूटे-फूटे जैसे भी हो सके आज मैं तुम्हें अपनी आपबीती सुनाऊँगा। और कुछ नहीं तो मेरा दिल तो हलका हो जायगा। कभी कभी दिल की लगी सुनाने को भी जी करता है।"

"ज़रूर सुनाइए, बात मुझसे बाहर नही जाएगी--मैं इतमीनान दिलाता हूँ।"

"मुझे इतमीनान है," उन्होंने कहा। "और अगर जाय भी तो कोई हर्ज़ नहीं। मेरे जीवन में अगर ऐसी कोई एक घटना हुई है, जिस पर मुझे गर्व है तो वह यही है. . . .उस बात को सात साल होने आए। मकान मेरा नया नया बनकर तैयार हुआ था। तुम तो जानते हो, मुझसे घर पर ज़्यादा देर रहा नहीं जाता। रात के खाने के बाद रोज़ थोड़ी देर स्टेशन के प्लैटफ़ॉर्म पर जा कर मैं घूम-फिर लिया करता था। गाड़ियों के आने जाने में, प्लैटफ़ॉर्म की चहल-पहल में तबीयत ताज़ा हो जाती थी। उधर ग्रैंडट्रंक छूटती थी और इधर मैं भी घर चला आता था।"

"वह इतवार का दिन था। शाम को आने वाली बॉम्बे मेल चार घंटे लेट होकर रात को साढ़े नौ बजे आई थी। स्टॉल से मैंने डेढ़ पैसे की एक क़ैंची खरीदी और धेले का पान और अपने नियमानुसार प्लैटफ़ॉर्म पर टहलने लगा। रोज़मर्रा के जाने से स्टेशन के सब कर्मचारी मेरे मुलाक़ाती हो गए थे; इसलिए कोई मुझे प्लैटफ़ॉर्म टिकट के लिए रोकता-टोकता भी न था। बल्कि किसी दिन अगर किसी सबब में वहां न जा पाऊँ, तो उन्हें बड़ा ताज्जुब होता। कई लोग तो मुझे रेलवे या सी० आई० डी० का आदमी समझ लम्बे लम्बे सलाम ठोंका करते। पतलून की जेब में

हाथ डाले, गालों में धेले का पान दबाए, डेढ़ पैसे की सिगरेट फूँकता हुआ मैं उस दिन भी बॉम्बे मेल के सामने चहलक़दमी कर रहा था। सहसा सेकंड क्लास कम्पार्टमेंट में बैठी हुई एक बंगाली स्त्री को देखकर मेरी आंखें चकाचौंध हो गई। बंगला की कोई पुस्तक पढ़ने में वह लीन थी। उसकी पतली मांग में सिंदूर भरा हुआ था। बदन पर चौड़े लाल पाट की रंगीन रेशमी साड़ी लपेटे हुए थी। मैं और ज़्यादा कुछ नहीं देख सका। सकते के आलम में खड़ा बस देखा किया--और देखकर भी कुछ नहीं देखा। इस बला की ख़ूबसूरती मैंने इससे पहले कभी नहीं देखी थी और न उसके बाद ही कभी देखी। उसको ख़ूबसूरती नहीं कह सकते। ख़ूबसूरती अक्सर कलुषित हुआ करती है; उसको सौन्दर्य कहेंगे--सात्विक सौन्दर्य। ऐसा जान पड़ा कि आज मैंने साक्षात् भगवान का ही रूप देख लिया। मेरे मन में उस स्त्री के प्रति एक तरह का आदर--वल्कि उसे भक्ति भी कह सकते हैं--उत्पन्न होने लगा। उस युवती ने एक दफ़ा किताब के ऊपर से मेरी ओर देखा और फिर पढ़ने में तल्लीन हो गई। मैं उसकी खिड़की के सामने ही खड़ा रहा। खड़ा खड़ा देखा किया। न मेरे क़दम हटते थे और न निगाह हटती थी। न जाने मुझे क्या हो गया था कि मैं पागल की तरह खड़ा हुआ उसे घूरता रहा। कहां हूँ, क्या कर रहा हूँ, इसका मुझे भान तक न था। अचानक मैंने सुना कोई ज़ोर ज़ोर से किसी पर बिगड़ रहा है। आवाज़ मर्दानी थी। मेरा ध्यान भंग हो गया। मुड़ कर देखा, डब्बे के दरवाज़े में, ढीला रेशमी कुरता पहने, मोटे कांच का चश्मा लगाए, एक बंगाली महाशय खड़े हुए मुझे फटकार रहे थे।

"'आप को शर्म नहीं आती किसी स्त्री को इस तरह घूरते हुए?' उन्होंने अंगरेज़ी में मुझे सुनाया।

"'इसमें शर्म की क्या बात?' मैंने भी अंगरेज़ी में जवाब दिया। 'मैं उन पर किसी तरह का आघात तो कर नहीं रहा हूँ।'

"'जानते हो, किसी स्त्री को घूरना गुनाह है?'

" 'होगा साहब, पर मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने किसी बुरी निगाह से नहीं देखा। मैंने उन्हें मां या बहन समझ कर ही देखा है।'

" 'अच्छा, अच्छा, अब आप मेहरबानी करके हट जाइए, वरना अच्छा नहीं होगा।'

" 'नाराज़ न होइये', मैंने कहा।

" 'मुझे स्टेशनमास्टर को बुलाना पड़ेगा।'

" 'इससे क्या फ़ायदा ?'

" 'मैं पुलिस को ख़बर करूँगा।'

" 'डराइए मत, जो चाहे कीजिए।'

" 'देन इट सीम्स आइ विल हैव्ह टु टेक दी लॉ इनटु माइ ओन हैण्ड्स,' कहता हुआ वह व्यक्ति कुरते की आस्तीन चढ़ा कर डब्बे से नीचे उतरने लगा, मगर इसी समय उसकी स्त्री ने लपक कर पीछे से उसका कुरता पकड़ लिया।

" 'ए तुमि कि कोर्छो !' उसने कहा। वह आदमी खुद कह रहा है कि मैं मां या बहन समझ कर देख रहा हूँ और तुम बिगड़े जा रहे हो !'

" 'वह आदमी असभ्य जान पड़ता है।'

" 'ए तोमार भूल।' फिर मुझसे कहा: 'कम ब्रदर, कम इन।'

" 'नहीं बहन,' मैंने कहा, 'इतना होने पर क्या अब यह उचित है ?' "

मगर उसने आग्रह किया, फिर उसका पति भी मुझे अंदर बुलाने लगा। मैं कम्पार्टमेट में चला गया। कम्पार्टमेंट के सामने लगी हुई भीड़ इस तमाशे को देखकर हैरत में थी। फिर चाय मँगवाई गई। बातें होने लगीं। मैंने अपना दृष्टिकोण समझाया। तब उस युवती ने कहा कि वह भी उस समय अपनी बंगला पुस्तक में इसी तरह का एक विचार पढ़ रही थी। ईश्वर की सौंदर्य-कृति में ईश्वर की झलक। हम तीनों के मन में परस्पर एक दूसरे के प्रति कौतूहल पैदा हो गया। गाड़ी चलने को थी। मैंने उतरना चाहा; मगर उन लोगों ने अगले स्टेशन तक

साथ चलने की ज़िद की। मुझे मान लेना पड़ा। रास्ते में ख़ूब बातें हुई। अगले स्टेशन पर उन्होंने फिर नहीं उतरने दिया। कहा कि अगले जंकशन पर उतर जाना। फिर तो मुझे असली बात साफ़ कह देनी पड़ी कि मेरे जेब में उतने किराए के पैसे नहीं हैं। 'तुम मुझसे ले सकते हो—अपनी बहन से,' संध्या ने कहा। 'ना, बहन से कुछ भी लेना हम लोगों में पाप समझा जाता है,' मैंने कहा। तब मि० घोष बोले: 'मुझसे तो ले सकते हो? चलो, अब बातें न बनाओ; तुम यहां नहीं उतर सकते। अगला स्टेशन जंकशन है, वहां चाहे उतर जाना।' मैं मान गया।

"मि० अतुलचन्द्र घोष कलकत्ते में ऊनी कपड़ों का व्यापार करते थे। चौरंगी और न्युमार्केट में उनकी बड़ी बड़ी दूकानें थीं। उनकी स्त्री, संध्या कुमारी, का शिक्षण शांतिनिकेतन में हुआ था। अभी इसी महीने उनकी शादी हुई थी। सैर के लिए व्हिएना जा रहे थे। वहां से विलायत, अमरीका भी जाने का विचार था। मेरे बहन न थी और संध्या के भाई न था; अतएव हम दोनों ने एक दूसरे को अपना बहन-भाई बद लिया।

"बम्बई से, व्हिएना से, लंदन से, न्युयॉर्क से वे लोग मुझे बराबर लिखते रहे। कभी कभी वहां की बनी हुई चीज़ें भी मेरे लिए भेजा करते। लौटती बार मैं फिर स्टेशन पर मिला। कलकत्ते से भी वह मुझे बराबर लिखती रही। मैं और संध्या सचमुच भाई बहन बन गए थे। बड़े दिनों की छुट्टियों में हर साल मैं कलकत्ते जाकर उनके यहां कुछ दिन रह आया करता। इस तरह चार साल बीत गए और फिर एक रात मैंने सपने में देखा कि मेरी संध्या बहन मृत्युशैया पर पड़ी आख़री सांस ले रही है। दूसरे ही दिन मैंने अतुल घोष को कलकत्ता तार देकर ख़बर पूछी। जवाब आया: 'फ़ौरन चले आओ। संध्या की हालत नाजुक है।'

"हावड़ा स्टेशन पर घोष के यहां का आदमी मुझे ढूँढ़ता फिर रहा था। मैंने उससे संध्या की हालत पूछी। उसने कहा सुबह से ज़बान बन्द है।

में सन्न हो गया। मोटर से उतर कर ज्योंही मैं 'संध्या भवन' में दाखिल हुआ तो देखा कि सर्वत्र शोक छाया हुआ है। किसी ने मुझे अंदर पहुँचाया। कमरे में प्रवेश करते ही अतुल मुझसे लिपट गया। 'ज़बान बन्द होने से पहले तक तुम्हारी याद कर रही थीं,' उसने कहा।

"संध्या ने आंखें खोलकर मेरी ओर देखा। मैंने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया। फिर एकाएक मुझे याद आया कि चलते समय मां ने हेमगर्भ की गोली मेरी जेब में रख दी थी। मैंने अतुल से कहा कि इलाज करने का एक मौक़ा मुझे भी दिया जाय, वैसे तो सब निराश हो ही चुके हैं। मैंने हेमगर्भ की गोली घिस कर संध्या को चटा दी। थोड़ी ही देर में उसके अन्दर शक्ति का संचार होने लगा। आंखें झपकनी बन्द हो गईं। दांतों की चौखट खुल गई और उसने मुँह से आवाज़ निकाली।

"'एशे छो, दादा!' उसने लड़खड़ाती ज़बान से कहा। 'तोमार रास्ताई देखछिलम'। फिर सिरहाने पड़ी हुई रिस्टवॉच अपने दुर्बल हाथों से उठाकर मुझे देती हुई बोली: 'मेरी यह तुम्हें भेंट है—बहन की अपने भाई को अंतिम भेंट।" मैं रो रहा था। सब रो रहे थे। संध्या ने अतुल के गाल पर हाथ फेरते हुए कहा कि वह रोए नहीं। फिर उसके पैर पकड़ कर उन्हीं पर उसने अपना सिर रख दिया और...."

रिस्टवॉच को अपने गन्दे रूमाल से पोंछते हुए तिवारी जी ने एक लम्बी सांस ली। "बात बिलकुल कहानी-सी मालूम होती होगी न?" उन्होंने अपनी डबडबाई आंखों को मेरी नज़रों से छिपाने की कोशिश करते हुए कहा।

"ज़िन्दगी भी तो कहानी ही हुआ करती है, तिवारी जी," मैंने उत्तर दिया; "बल्कि अक्सर कहानी से भी ज़्यादा विचित्र। माफ़ कीजिएगा, मुझे मालूम न था कि इस रिस्टवॉच के रहस्य में इतना दर्द छिपा होगा, वरना मैं आपका ज़ख्म न कुरेदता।"

तिवारी जी मुस्कुराए। मुंह से धुआं छोड़ते हुए बोले: "तुम्हें अपनी

नई कहानी के लिए प्लॉट की ज़रूरत थी। अगर चाहो तो इसे इस्तेमाल कर सकते हो।"

मैं भी यही सोच रहा था। मगर इजाज़त मांगने की हिम्मत नहीं हो रही थी।

"शुक्रिया," मैंने कहा। "पर कह नहीं सकता कि जिस दर्द से आप ने यह सुनाई है, वह दर्द कहानी में पैदा कर सकूँगा या नहीं। मेरी असफलता आप के और संध्या बहन के प्रति कहीं अन्याय न हो जाय।"

तिवारी जी फिर मुस्कुराए। "मुझे तुम्हारी क़लम पर भरोसा है," उन्होंने कहा और फिर हुक़्क़े के कश लेने लगे।

घोंसला

रोशनदान में पड़े हुए चिड़िया के घोंसले से अगर पर फड़फड़ाने की आवाज़ शीला को अपनी ओर आकर्षित न करती, तो न जाने कबतक वह अपनी सुखमय विचार-धारा में ग़ोते लगाती रहती. . . .उसने इस घोंसले को बनते देखा था। उसे याद है, एक एक तिनका लालाकर दोनों चिड़ियों ने छोटा-सा वह घोंसला तैयार किया था। पिछले कुछ दिनों से मादा बाहर नहीं निकली। शीला ने सोचा, 'शायद उस में अंडे भी पड़े हों!' इस विचार ने उसके हृदय में अजीब गुदगुदी पैदा की। धीरे-से गर्दन घुमाकर उसने पलंग पर पास ही लेटे हुए गोकुल की तरफ़ देखा। वह निश्चिन्त सो रहा था। वह ज़रा पास खिसक आई; और हथेली के सहारे अपना सिर उठा एकटक उसके चेहरे को देखने लगी। इसी समय गोकुल ने करवट ली और उसकी आंख खुल गई। अचानक इस तरह पकड़ी जाने पर शीला शर्मा गई। गोकुल ज़रा मुस्कुराया; फिर उसे अपनी ओर खींचता हुआ बोला:

"अभी तक जाग ही रही हो!"

जवाब में शीला ने उसकी छाती में अपना मुँह छिपा लिया। गोकुल उसके सिर को थपथपाने लगा।

"नींद नहीं आ रही है आज?"

"उँहूँ," उसी तरह मँह छिपाए हुए ही शीला ने उत्तर दिया।

"क्यों?"

शीला कुछ न बोली। शयनगृह की उस चप्पी में गोकुल और शीला चुपचाप पड़े लहरों की मधुर ध्वनि सुनने लगे। शीला की इस हरकत में गोकुल ने कुछ विचित्रता पाई। आज कल वह कुछ खिंची-सी रहती

थी। उसकी चञ्चलता, उसका खिलखिला कर हँस पड़ना काफ़ूर हुआ जा रहा था। उसमें गम्भीरता का सञ्चार हो आया था। मगर उसकी किसी भी बात में गोकुल को बेरुख़ी नहीं दिखलाई दी; बल्कि उसे जान पड़ा, उसकी शीला इन दिनों पहले से ज़्यादा सुखी है....'फिर यह आंखमिचौनी क्यों?' उसने सोचा। 'ज़रूर कोई बात है, जो शीला मुझसे छिपाए हुए है—'

इसी समय मलबार हिल के घण्टा-घर की घड़ी ने टन टन दो बजाए। शीला ने सिर ऊपर उठाया। चांद की रौशनी में उसने देखा, गोकुल आंख बन्द किए पड़ा था।

"सो गए क्या?"

"नहीं तो," गोकुल ने आंखें खोल दीं। "क्या बात है?"

"कुछ नहीं; यों ही पूछा।"

"शीला—"

शीला ने सारी ताक़त बटोर कर गोकुल की तरफ़ देखा।

"तुम मुझसे नाराज़ हो?"

"मैं?"

"हां?"

"क्यों भला?"

"क्या मालूम। आजकल मैंने देखा है, तुम कुछ अलग अलग-सी रहती हो।"

शीला मुस्कुराई। लप लप करती उसकी आंखें नीचे को झुकीं और फिर उठ गईं। उसने अपनी बांह गोकुल के गले में सरका दी; और एक सन्तोषभरी सांस छोड़कर धीमे से कहा:

"मैं बहुत सुखी हूँ।"

गोकुल ने उसे चूमकर धीरे से चादर ऊपर खींच ली।

सुबह जब गोकुल की आंख खुली, दिन काफ़ी चढ़ आया था। 'लो

टाइड' होने की वजह समुद्र किनारे से दूर हट चुका था और उसकी लहरों की ध्वनि बहुत मन्द हो गई थी। पलंग पर कुछ तिनके पड़े हुए थे, जिन्हें चुन कर वह बाहर फेंकने लगा। शीला ड्रेसिङ्ग-टेबल के सामने बैठी हुई बाल सँवार रही थी।

"आज बड़ी देर तक सोए!" शीला ने आईने में गोकुल को देखते हुए कहा।

गोकुल ने जमुहाई ली।

"क्या बजा है?"

"आठ बजने को हैं....पिता जी पूछ रहे थे तुम्हें। मैंने कहा अभी सोए हैं। कह रहे थे, दूकान पर जल्दी जाना है।"

"अरे हां," गोकुल हड़बड़ा कर बिस्तर से अलग हो गया। "ग्वालियर-महाराजा का आदमी आनेवाला है आज दूकान पर नौ बजे। उन्हें कुछ जवाहिरात चाहिए," कहता हुआ गोकुल बाजू के कमरे में झपटा।

शीला ने घण्टी बजाई। बूढ़ा नौकर फौरन हाज़िर हुआ।

"बिरजू, जा जल्दी चाय ले आ; और शोफ़र से कहना कि मोटर निकाले। और देख, बड़े सरकार से कह दे कि सरकार तैयार हो रहे हैं।"

बिरजू चला गया। शीला ने कबर्ड से गोकुल के कपड़े निकाले और कमीज़ में बटन लगाने लगी।

थोड़ी देर में नहा-धोकर गोकुल आ गया और कपड़े पहनने लगा। बिरजू चाय का ट्रे लाकर रख गया। जल्दी जल्दी गोकुल ने चाय पी और रिस्टवॉच में समय देखता हुआ उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा, शीला, मैं जाता हूँ। वरना देर हो जाएगी।"

"यह टोस्ट तो खा लो।"

"नहीं, बस अब रहने दो।"

मगर शीला कब मानने लगी; उसने टोस्ट गोकुल के मुंह में दे ही दिया। गोकुल ने शीला के गाल पर एक हल्की-सी चपत लगाई और मुस्कुराता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

शीला ने खिड़की से देखा, नीचे पोर्च में मोटर खड़ी थी। गोकुल का उसमें बैठना ही था कि 'सूँ' करती हुई वह दालान से बाहर हो गई। मलबार हिल की टेढ़ी-मेढ़ी सड़क पर से नीचे को जाती हुई मोटर बड़ी भली मालूम हो रही थी। निगाह से मोटर ओझल भी हो चुकी, लेकिन शीला खिड़की के पास खड़ी हुई एकटक उधर देखती ही रही। 'अभी तक उनको पता नहीं है,' उसने सोचा और मन ही मन हँसने लगी। फिर उसे अपने आप पर गुस्सा भी आया कि उसने गोकुल को—'अपने गोकुल' को—अभी तक अपने सुखद-स्वप्नों से वञ्चित रखा, यह अच्छा नहीं किया। मगर इस व्यवहार में शीला ने एक विचित्र आनन्द का अनुभव भी किया। उसके सारे शरीर में झुनझुनी पैदा होने लगी। मुस्कुराती हुई वह पलंग पर आ लेटी।

हवा के झोंके के साथ घोंसले से कुछ तिनके उड़े और शीला के आस-पास पलंग पर फैल गए।

दूकान से लौटकर गोकुल ने देखा, शीला पलंग पर बैठी हुई कुछ बुन रही थी। वह दबे पांव उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। शीला बिलकुल खोई हुई थी। गोकुल ने जो कुछ देखा, वह एकदम उसकी समझ में न आया; और जब आया, तो उस पर उसे विश्वास न हुआ। शीला की गोद में लाल ऊन का गोला पड़ा हुआ था और वह धीरे धीरे सलाइयों पर एक नन्हा-सा मोज़ा बना रही थी—

"शीला!" मारे ख़ुशी के गोकुल चिल्ला उठा।

शीला चौंक पड़ी। उसने देखा, पीछे गोकुल खड़ा था। वह लजा कर मोज़ा छिपाने लगी; पर गोकुल ने झपटकर उससे मोज़ा छीन लिया। शीला से कुछ न बन पड़ा; उसने दोनों हाथों से अपनी आंखें ढँक लीं।

गोकुल खुशी से पागल हुआ जा रहा था। उसने शीला को उठा लिया और ज़ोर से गोल घुमाकर बिस्तर पर वापस ला रखा। शीला के गालों पर सुर्खी दौड़ गई। वह उसके पास बैठ गया और प्यार भरी निगाह से उसे ताकने लगा। शीला लाज, आनन्द और उत्तेजना से सिकुड़ी जा रही थी। गोकुल ने उसे बाहुपाश में लेकर कहा :

"शीला !"

शीला ने धीरे धीरे आंखों पर से हाथ हटाए।

"तीन साल बाद," गोकुल ने कहा, "आज तुम्हारी गोद भरी है ! . . . अपनी शादी को तीन साल होते आए न ?"

उसने सिर हिलाकर 'हां' जताया; फिर बोली :

"जाओ, तुम कपड़े उतारो; पिता जी खाने के लिए राह देखते होंगे।"

पलंग पर बिखरे हुए तिनकों को गोकुल चुनने लगा।

"तुम जानती हो, आज मैं कितना खुश हूँ ?"

शीला ने रौशनदान में पड़े हुए घोंसले की ओर इशारा किया :

"उसमें भी हम जैसे दो सुखी जीव रहते हैं !"

गोकुल ने उधर नज़र फिराई। मादा घोंसले में बैठी हुई नर के लौटने की राह तक रही थी।

रफ़्ता रफ़्ता शीला ने दोनों मोज़े बुन डाले। और अकसर जब गोकुल दूकान चला जाता, वह उनको छाती से लगाए घण्टों पड़ी रहती।

गोकुल भी हमेशा, किसी न किसी बहाने, मेज़ की दराज़ खोल कर उसमें रखे हुए लाल ऊन के उन नन्हें-से मोज़ों को देख लिया करता।

बिस्तर पर पड़े पड़े दोनों रात को बड़ी देर तक, आनेवाले नये मेहमान की निस्बत सोचा करते। एक रात ऐसे ही थोड़ी देर चुपचाप पड़े रहने के बाद अचानक गोकुल पूछ बैठा :

"क्यों, शीला, 'रमेश' नाम कैसा होगा ?"

"किसके लिए ?" अनजान-सी, शीला बोली।

"तुम्हारे लिए !"

शीला मुस्कुराई ।

"बोलो ना ?"

"ना : यह तो बड़ा मामूली-सा है ।"

थोड़ी देर सोचकर गोकुल ने सुझाया :

" 'सुधीर' पसन्द है ?"

"....उँहूँ....कोई और सोचो ।

" 'विनोद' ?"

शीला हँस पड़ी :

"तुम्हें तो जान पड़ता है पूरा भरोसा है कि लड़का ही होगा ?"

गोकुल भी हँस पड़ा; बोला :

"अरे ! यह तो मुझे सूझा ही नहीं !"

गोकुल के बालों में शीला उंगलियां चलाती हुई बोली :

"अगर लड़की हुई, तो उसका नाम 'नैना' रखेंगे—तुम्हें पसन्द है ?—'नैना' ?"

"बड़ा अच्छा है । और अगर लड़का हुआ तो ?"

"तो 'विनोद' ।"

"लेकिन यह तय है कि तुम्हारे नाम की ज़रूरत ही नहीं पडेगी । विनोद बाबू आ रहे हैं—"

घोंसले में चिड़िया ने पर फड़फड़ाये ।

"लो," गोकुल बोल उठा, "चिड़िया भी यही कह रही है ।"

मुस्कुरा कर शीला ने अपनी बड़ी बड़ी आंखें उस ओर उठा दीं ।

जल्दी ही यह शुभ समाचार कोठी में सब को विदित हो गया । इनाम-इकराम बँटने लगे । बड़े सरकार ने सदाबर्त खोल दिया । बड़ी मालकिन ने दान-दक्षिणा देनी शुरू की । मंदिर में पुजापा चढ़ने लगा....

उस दिन पलंग पर लेटा हुआ गोकुल उपन्यास पढ़ रहा था । रहरह

कर ऊपर से घोंसले के तिनके उस पर आ गिरते थे। वह उन्हें झटक कर अलग करता जाता था। बार बार इस तरह सताये जाने पर वह झुंझला कर उठ बैठा। तिनकों ने कई दिनों से परेशान कर रखा था। उसने घोंसले को रौशनदान के परले सिरे पर सरका देना मुनासिब समझ, खूंटी से लटकी हुई छड़ी उठाई और पलंग पर चढ़ कर उससे घोंसला धीरे धीरे हटाने लगा। तभी शीला गुलदस्ते के फूल लिए अन्दर आई।

"हें! हें! यह क्या करते हो!" वह छूटते ही बोली।

चिड़िया फुर्र से उड़ कर रौशनदान की पटरी पर जा बैठी। अचानक घोंसला तिर्छा होकर ढुलक गया; और पट, पट, पट उसमें से तीन अण्डे ज़मीन पर गिर कर फूट गए। शीला चीख उठी।

"हाय!....यह तुमने क्या किया!"

गोकुल सहम गया। दोनों चिड़ियों ने 'चूं-चूं' मचा दी। शीला से खड़े न रहा गया; वह कुर्सी का सहारा ले आगे बढ़ी और पलंग पर बैठ गई।

"मेरी मन्शा अण्डों को नुक़सान पहुँचाने की हरगिज़ न थी.... मैं तो सिर्फ़ घोंसले को ज़रा सरका रहा था, ताकि तिनके पलंग पर न गिरें...."

शीला फूटे हुए अण्डों की ओर एकटक देख रही थी। अण्डों में से पीला-सफ़ेद पानी फ़र्श पर बह निकला था। यह तीन जीवों की लाश थी। चिड़ियों के सुखद-स्वप्नों का अन्त था....शीला की आंखें छल-छला उठीं....

गोकुल का बुरा हाल था। वह शीला के पास बैठ गया और उसके कन्धों को दोनों हाथों से पकड़ कर उसे हिलाता हुआ बोला:

"शीला—मुझे माफ़ करो—मैं—मुझे बहुत अफ़सोस है—शीला!—"

शीला ने गोकुल की ओर देखा: गोकुल की आंखें पीड़ा और पश्चात्ताप से अस्थिर हो रही थीं। उसका हाथ अपने हाथ में लेती हुई वह बोली।

"इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं....मन न ख़राब करो।"

यद्यपि शीला ने अपनी ओर से इस तरह दिलासा दिलाया, गोकुल जानता था कि शीला ने अपने मन में उसे दोषी ही ठहराया था और उसे वह कभी माफ़ नहीं कर सकती थी।

चिड़ियों ने घोंसला त्याग दिया। रात को अब रौशनदान से पर फड़फड़ाने की आवाज़ नहीं आया करती। उस उजड़े हुए घोंसले के तिनके हवा के झोंकों के साथ एक एक कर कई दिनों तक पलंग पर गिरते रहे; पर गोकुल की कभी भी हिम्मत न हुई कि उन्हें उठा कर दूर करे। जल्दी ही रौशनदान से घोंसले का नामोनिशान मिट गया....शीला को कभी सहज ही में नींद नहीं आई। पलंग पर पड़ी पड़ी वह रौशनदान को ताका करती और चुपके चुपके आहें भरती; मगर चढ़ते हुए समुद्र की आवाज़ में उसकी आहें दब जातीं।

उस दिन ग़ुस्लख़ाने के चिकने पत्थर पर शीला का पैर फिसल गया। चोट तो उसे ज़्यादा न आई; पर नतीजा उसका वही हुआ, जिससे कोठी में कई दिल कांप उठे। बड़े सरकार ने बम्बई के बेहतरीन डॉक्टर को तलब किया। बड़ी मालकिन ने मन्नत मानी....मगर सब व्यर्थ रहा। शीला की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। गोकुल के दिल में भी चोट गहरी लगी।

सोते, जागते अनेकों बार देखे हुए मीठे सपने शीला के दिल में एक दर्द बन कर रह गए....वह कांपते हुए हाथों से मेज़ की दराज़ खोलती और लाल ऊन के उन नन्हें-से मोज़ों को उठा कर अपनी छाती से चिमटा लिया करती; और फिर उसकी आंखों के आगे अन्धकार छा जाता....

गोकुल, हज़ार बहाने, शीला को भुलाये रखने की कोशिश करने लगा। दराज़ से मोज़े निकाल कर उसने कहीं और छिपा दिए। मगर शीला के मातृ-हृदय में जमी हुई परिचित-सी वह नन्हीं तसवीर एकदम न मिट सकी। शीला की आंखों में गोकुल जब भी कभी देखता, उनमें एक

छिपा हुआ इल्ज़ाम पाता और वह बेचैन हो उठता। शीला ने उसके दिल को राहत पहुँचाने की काफ़ी कोशिश की और बहुतेरा कहा कि घोंसले-वाली घटना को वह कब की भूल चुकी, पर गोकुल के पश्चात्तापपूर्ण मन को कभी तसल्ली न हुई; और उसका यह अन्तर्द्वन्द्व ही मिथ्यानुमान की दीवार बन दोनों के बीच खड़ा हो गया।

महीनों बीत गए। और एक दिन शयनगृहवाले उसी रौशनदान की पटरी पर मुँह में तिनका लिए चिड़िया फिर से बैठी। घोंसले की नींव पड़ रही थी। गोकुल का दिल उछल पड़ा।

"शीला!" वह उत्तेजित हो बोला, "तुमने देखा, चिड़िया फिर से घोंसला बना रही है!"

शीला पहले ही देख चुकी थी। उसने मुस्कुरा कर निगाह रौशनदान की ओर फिराई। आशा के झूले में दोनों जन झूलने लगे।

घोंसला कुछ ही दिनों में बन कर तैयार हो गया। हवा के झोंकों के साथ फिर तिनके उड़उड़ कर पलंग पर आ गिरने लगे. . . .और गोकुल और शीला के दरमियान बनी हुई काल्पनिक दीवार अकस्मात् टूटकर गिरने लगी।

एक रात गोकुल और शीला जब सोने गए, आसमान में बादल मँड़रा रहे थे। चांद की पतली-सी रेखा घने अन्धकार में एकदम खो गई थी। उमड़ते हुए समुद्र की बड़ी बड़ी लहरें मलबार हिल के किनारे से टकरा-कर भयानक आवाज़ पैदा कर रही थीं। मछवे अपनी अपनी किश्तियों को किनारे से लगा रहे थे और ऐसा जान पड़ता था, मानो बड़े ज़ोरों से बारिश होने वाली है।

आधी रात के क़रीब शयनगृह की खिड़कियां आंधी से खड़खड़ा उठीं और पानी की बौछार ने अन्दर प्रवेश किया। गोकुल और शीला जाग कर उठ बैठे। उन्होंने देखा, बाहर भीषण आंधी के साथ ज़ोरों की वर्षा हो रही थी। बादल गरज रहे थे; बिजली चमक रही थी; पेड़-पौधे

उखड़ कर गिरे जा रहे थे; जिधर-उधर जल-थल हुआ जा रहा था। उन्होंने जल्दी से उठ कर खिड़कियां बन्द कीं; मगर फिर भी समुद्र की खौफ़नाक फुफकार अन्दर सुनाई दे रही थी। 'किर्र किर्र' करती हुई आंधी ने रौशनदान का एक कांच तोड़ कर गिरा दिया। कांच का 'खन' से नीचे गिरना था कि शीला कांप उठी—

"हाय राम! . . . . वह घोंसला!" उसके मुँह से चीख निकली।

टूटे हुए कांच से घुसती हुई हवा में घोंसला डांवाडोल हो रहा था।

गोकुल लपक कर पलंग पर चढ़ा और वहां से दीवार से लगी हुई आलमारी पर जा पहुँचा। दोनों चिड़ियां फुदक कर घोंसले से दूर हो गईं और 'चूं-चूं' करके उन्होंने हायतोबा मचा दी। टूटे हुए कांच से आती हुई फुहार गोकुल के मुँह पर पड़ने लगी। शीला ने जल्दी से उसे अपनी एक साड़ी पकड़ा दी और ख़ुद हिलती हुई आलमारी को थाम कर खड़ी हो गई। गोकुल ने साड़ी रौशनदान में ठूँस दी। हवा एकदम रुक गई, घोंसला स्थिर हो गया और बिजली की चकाचौंध में उसके अन्दर से तीन अण्डे चमक उठे। अपनी धोती के एक छोर से गोकुल ने घोंसले का पानी पोंछना चाहा; पर दोनों चिड़ियां अण्डों पर आघात होते जान उसके हाथ पर चोट करने लगीं। वह मुस्कुराता हुआ उतर आया।

"अण्डे हैं?" शीला ने पूछा।

"तीन।"

शीला ने देखा, भीगे हुए कपड़ों में गोकुल कांप रहा था।

"तुम जल्दी कपड़े बदलो," उसने कृतज्ञतापूर्ण स्वर में कहा, "बड़ी ठण्ड है, कहीं सर्दी न लग जाय।" वह फ़ौरन कबर्ड खोल कर दूसरे कपड़े निकाल लाई। "लो, जल्दी से पहन लो।"

थोड़ी देर में दोनों चिड़ियां घोंसले में फिर से जा बैठीं।

सन्तोष की एक सांस लेकर गोकुल पलंग पर आ लेटा। आंधी थम रही थी, पानी बन्द हो रहा था। शीला ने गोकुल को रज़ाई उढ़ा दी

और बाजू में बैठती हुई उसके बालों पर धीरे धीरे हाथ फेरने लगी। गोकुल ने उसे रज़ाई के अन्दर ले लिया। कुछ देर बाद शीला ने धीरे से कहा:

"वो मोज़े कहां हैं ?"

आश्चर्य और आनन्द से गोकुल स्तब्ध रह गया। कोहनी के बल कुछ उठ कर उसने पूछा:

"सच ?"

....और शीला की चपल आंखें मुस्कुरा कर मुंद गईं।

हीरे की अँगूठी

पिछले दो दिनों से कमल इसी उधेड़-बुन में था कि सुधीर को ब्याह में कौन सी वस्तु भेंट दे। वह उसका पुराना, गहरा, जिगरी मित्र था; और अब उसकी शादी थी। कमल आज भी सुबह से बाज़ार में घूमता दूकानें छानता रहा कि कोई सुन्दर, बहुमूल्य वस्तु उसकी नज़र में आ जाय। दो-चार चीज़ों पर उसकी तबीयत आई भी; परन्तु या तो वो भद्दी थीं या सस्ती।

दोपहर को जब वह 'सोना-चांदी लेन' से गुज़र रहा था, उसे अकस्मात् कोई बात सूझ गई और वह जौहरियों की दूकानों में कुछ खोजने लगा। एक जगह आख़िर उसे कुछ मिल ही गया। उसने देखा जड़-जवाहर, नग-नगीनों से झिलमिलाती हुई कांच की आलमारी के अन्दर, लाल मख़मल की डिबिया में ख़ूबसूरत-सी एक हीरे की अँगूठी रक्खी हुई है।

"ले लो, बाबू साब, बतलाऊँ?" कहता हुआ एक दुबला, पतला लम्बा मनुष्य, इन्द्रधनुषी पगड़ी बांधे, कमल के समीप आकर खड़ा हो गया और ताला खोल कर पट हटाने लगा।

कमल ने वह अँगूठी दिखलाने को कही। दूकानदार ने डिबिया निकाल कर उसके हाथ में दे दी। कमल अँगूठी घुमा-फिरा कर देखने लगा।

"एक चीज़ है साब यह। एक दफा ले भर जाइए, पुश्तनपुश्त जाएगी।"

"हां, है तो बेशक बड़ी अच्छी। क्या क़ीमत है इसकी?"

"नौ सौ पचासी।"

"ठीक बतलाइए, सेठजी; यह तो बहुत है।"

"साब, जादा थोड़े ही लेना है आप से। असली हीरा है। आप ले तो जाइए मोल आप के पिता जी से कर लूँगा। बालिस्टर साब

के बेटे हैं न आप ?"

"जी।"

"बस तो फिर—ले जाइए।"

"देखो, भाई, माल अच्छा होना चाहिए। शादी में किसी को देना है।"

"भरोसा रखिए, बाबू साब। आप भले ही देकर भूल जाएँ पर लेने वाला जनम भर न भूल सकेगा। लाखों में एक चीज़ है यह।"

कमल ने डिबिया रख ली और एक चेक काट दिया।

दूसरे दिन वह छिंदवाड़ा के लिए रवाना हो गया। रात को दस बजे गाड़ी नागपुर जंक्शन पहुँची। यहां पर ट्रेन बदलनी थी। पुल के उस पार, दूसरे प्लैटफ़ॉर्म पर, छिंदवाड़ा के लिए गाड़ी तैयार थी। कुली के सिर पर सामान रखवा कमल एक सेकंड क्लास कम्पार्टमेंट में जा पहुँचा। उसे इस समय बड़ी भूख लग रही थी और वक़्त भी काफ़ी था, अतएव कुली को डब्बे के पास छोड़ वह स्टेशन के होटल में खाना खाने चला गया।

होटल से लौट कर उसने देखा प्लैटफ़ॉर्म पर, ख़ासी भीड़ लगी हुई थी। भारत के कई स्थानों से आए हुए स्त्री, पुरुष और बच्चे, जुदा जुदा तर्ज़ से रंग बिरंगी पोशाक पहने, चल-फिर, उठ बैठ रहे थे। खोंचेवाले गाड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, बोल बोल कर दौड़ लगा रहे थे। लहराते हुए उस जन-समुदाय में से जब कमल अपने कम्पार्टमेंट के पास पहुँचा तो उसने एक युवती को उसमें बैठी हुई पाया। वह खिड़की से सिर बाहर निकाले, चाय पीती हुई, उसी की ओर ताक रही थी। दो लड़के गर्म सूट पहने, क़रीब ही क़ंदील के नीचे, खम्भे से टिक कर खड़े थे; और सेकंड क्लास कम्पार्टमेंट की उस खिड़की से टपकते हुए असीम सौंदर्य को चाट जाने की चेष्टा कर रहे थे। शायद वे किसी कॉलेज के उन विद्यार्थियों में से थे जो सारा दिन, सारी शाम और आधी रात तक अभ्यास करने के पश्चात् कोर्स की रूखी, मनहूस पुस्तकों से ऊब कर, नये

ब्लेड से शेव्ह कर, होस्टल के ठंडे पानी से नहा, अच्छे कपड़ों में सज-धज कर, अनोखी सूरतों पर आंख सेंकने और दिल बहलाने की हसरत लिए, स्टेशन के प्लैटफ़ॉर्म पर मँड़राया करते हैं; और ट्रेन के चले जाने के बाद, वापस लौट, कपड़े उतार, किताबों को सिरहाने रख, तकिया बग़ल में दबा, एक ठंडी सांस छोड़ कर सो जाते हैं।

"यार, एक चीज़ है !" उनमें से एक ने कहा।

"हां, चिड़िया है तो ग़ज़ब की !" दूसरा बोला।

कमल ने देखा वह खुद बुत की तरह खड़ा एक मज़ाक़ हुआ जा रहा है। जल्दी से अपने को सम्हाल कर उसने जेब से सिगरेट निकाल कर जलाई और कुली को पैसे दे कर बिदा किया। फिर वह मन ही मन लड़कों के उद्गारों पर हँसता और अपनी दशा पर शर्माता हुआ डब्बे में जा बैठा।

थोड़ी देर बाद इंजन ने सीटी दी, एक धक्का लगा और भक भक करता स्टेशन पीछे खिसकने लगा।

तरुणी हलके आसमानी रंग की महीन रेशमी साड़ी पहने हुए थी। ऊपर से डिज़ाइनदार, बड़े बटनोंवाला, लेटेस्ट फ़ैशन का स्वेटर कोट डाल रक्खा था। कानों में लंबे लंबे ईअररिंग्ज़ लटक रहे थे। दाहिने हाथ में चार-छः-आठ चूड़ियां थीं और बाएँ में सोने की एक छोटी-सी रिस्टवॉच काले मखमल के पट्टे से बंधी हुई थी। पैरों में ऊँची एड़ी वाले सैंडल्स डटे हुए थे....कमल उसे सिर से पांव तक इस तरह घूर रहा था जैसे कोई विदेशी पहली बार आगरा पहुँच कर ताजमहल को घूरता है।

"आप कहां जाएँगे ?" सहसा उस युवती ने कमल की ओर मुड़ कर पूछा। वह झेंप सा गया।

"जी—मैं—मैं छिंदवाड़ा जा रहा हूँ।"

वह फिर खिड़की से बाहर ताकने लगी। कमल एक मासिक पत्र के पन्ने उलटने लगा। स्टेशन आने और जाने लगे। जाड़ों की रात थी

श्रौर छिंदवाड़ा लाइन। कड़ाके की सर्दी होने के कारण ग्राज ज़्यादा मुसाफ़िर नहीं थे। बल्कि जो थे वही कम होते जा रहे थे। छोटी लाइन पर चलनेवाली वह छोटी-सी सकरी गाड़ी छोटे छोटे स्टेशनों पर थोड़ी थोड़ी देर ठहरती हुई, हिलती, डोलती, झूमती चली जा रही थी।

"इसे उठा दूं ?" युवती ने खिड़की का शीशा ऊपर चढ़ाते हुए कमल से पूछा, "ग्राप को कोई एतराज़ तो नहीं?...हवा बड़ी सर्द है!"

"जी हां, बड़ी ठंड है। लाइए मैं उठाए देता हूँ," कह कर कमल ने ग्रपनी जगह से उठ कर शीशा ऊपर चढ़ा दिया। "सभी न उठा दूँ ?"

"ग्रगर तकलीफ़ न हो।"

कमल ने एक एक कर सब शीशे ऊपर चढ़ा दिए ग्रौर ग्रपनी जगह पर ग्रा बैठा।

"ग्राप छिंदवाड़ा रहते हैं ?" युवती ने पूछा।

"जी नहीं, ग्रपने एक दोस्त की शादी में शरीक होने जा रहा हूँ।"

"बाबू गोपीनाथ कॉन्ट्रैक्टर के यहां तो नहीं ?"

"जी हां, उन्हीं के घर। ग्राप उन्हें जानती हैं ?"

"नाम सुना है।"

"ग्राप कहां जाएँगी ?"

"....ग्राप का काफ़ी दूर तक साथ दूँगी," वह ग्रपनी रिस्टवॉच को देखती हुई मुस्कुरा कर बोली।

"क्या बजा है ?"

"ढाई।"

बात करने के बहाने कमल उसके शरीर पर, नीचे से ऊपर तक, एक चिपकती हुई नज़र फेंक दिया करता था। गद्देदार बर्थ पर ग्राराम से टिक कर बैठी हुई न जाने वह क्या सोच रही थी....कमल के दिल में दर्द उठने लगा।

एक स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वह अपनी सीट से उठ कर दरवाज़े पर आई और उसे खोल कर बाहर को झांकने लगी।

"क्या कुछ चाहिए आप को ?" कमल ने पूछा।

"यहां चाय मिल सकेगी ?"

"मिलनी तो चाहिए। देखूँ ?"

"अगर तकलीफ़ न हो।"

"नहीं, तकलीफ़ काहे की।"

कमल उठा और उससे सटता हुआ दरवाज़े के नीचे उतर पड़ा और थोड़ी देर में एक छोकरे के हाथ दो कप लिवा लाया। दोनों ने चाय पी। छोकरे को पैसे देकर कमल ने दरवाज़ा बन्द कर दिया और अपने ओह्वर कोट का कॉलर उलटाता हुआ सीट पर आ बैठा।

"शुक्रिया," युवती ने कहा और फिर पास ही चमडे के सूट केस पर पड़ा हुआ कम्बल अपने पैरों पर खींच कर वह कमल के चेहरे को ताकने लगी।

बोल-चाल, रंग-ढंग, तौर-तरीक़े से वह यू० पी० की रहनेवाली मालूम होती थी, परन्तु थी अल्ट्रा मॉडर्न—पर्दा, झिझक, मूढ़ता से कोसों दूर। ऐसे नायाब मौक़े को खो देना कमल ने मुनासिब न समझा।

गाड़ी उस पहाड़ी प्रदेश की सर्द हवा में कांपती, चांदनी में नहाती, गड़गड़ाती हुई चली जा रही थी और उसके एक छोटे से डब्बे में, आमने-सामने बैठे हुए, दो प्राणी, आंखोंआंखों में कोई मौन भाषा बोल रहे थे।

"कहां से आ रही हैं आप ?" कमल उस अनोखी निस्तब्धता को भंग करता हुआ बोला।

वह फिर मुस्कुराई। "बहुत दूर से," उसने कहा।

"यह तो मेरे सवाल का जवाब नहीं है," कमल ने कुछ शिकायत के तौर पर कहा। "मेरा मतलब शहर से था—बंबई, कलकत्ता, बनारस, लखनऊ, कानपुर—?"

उसने सिर हिला कर 'नहीं' जताया।

"दिल्ली ?"

उसने फिर सिर हिला दिया।

"लाहौर ?"

"ग्रौर ऊपर चलिए।"

"पेशावर ?"

"उँहूँ।"

"कावुल ?"

वह खिलखिला कर हँस पड़ी। "दिल्ली से," उसने कहा।

"ग्राप के साथ ग्रौर कोई हैं ?"

"नौकर हैं।"

"कहां ?"

"दूसरे डब्बे में।"

"मैं ग्राप का नाम जान सकता हूँ ? क्या करती हैं ग्राप दिल्ली में ?"

"ग्राप एकदम बहुत-कुछ जान लेना चाहते हैं !" उसकी ग्रांखों में बदली छाई हुई थी, होंठों पर मुस्कुराहट झूल रही थी।

कमल झेंप कर चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद फिर ग्रांखें चार हुईं। कमल की ग्रोर वह उस निगाह से ताक रही थी जिसका ग्रर्थ कुछ नहीं ग्रौर सब कुछ हो सकता था.... कमल सहसा उठा ग्रौर उसके पास ग्राकर खड़ा हो गया। वह बराबर कमल की ग्रांखों में देखती रही। पल भर बाद, कमल फिर से ग्रपनी बर्थ पर जा बैठा ग्रौर एक खिड़की का शीशा नीचे गिरा कर उसने बहुत-सी ठंडी हवा ग्रंदर ले ली। फिर, सिगरेट सुलगा कर उसी मासिक पत्र के पन्ने उलटने लगा। हृदय में उसके हलचल मची हुई थी। दिमाग़ में तूफ़ान उठ रहा था। वह सोचने लगा कि कितनी जल्दी उस पर वह रीझ गया है ! क्या उस युवती का भी यही हाल होगा ? ग्रगर न होता तो

क्या वह चुप रहती ? उसकी आंखों में क्या प्रेम नहीं झलक रहा है ? मगर इतनी जल्दी कोई किसी के प्रेम में पड़ भी सकता है ? तरह-तरह की दलील उसके मन में पैदा होने लगीं। देखे, सुने और उपन्यासों में पढ़े हुए ऐसे तमाम दृष्टांत उसके सामने एक एक कर आने लगे जहां कि नज़र मिलते ही नायक, नायिका में असीम प्रेम का संचार हुआ है। क्या वह किसी दिन उसे अपनी बना सकेगा ? कितना सुखी होगा उसका जीवन अगर वह ऐसा कर सका तो ! शाम को जब वह घर लौटा करेगा तो किस तरह दरवाज़े की आड़ में वह छिपी खड़ी रहा करेगी ! और दोनों बाहें उसके गले में डाल किस तरह उस पर वह कूद पड़ा करेगी ! और किस तरह—

कमल ने अनुभव किया कि खुली हुई खिड़की के पास बैठा वह कांप रहा है। होश में आकर उसने कांच फिर से ऊपर चढ़ा दिया। इसी समय 'फर्र' से कोई चीज़ बजी। उसने मुड़ कर देखा। वह थी सोई हुई और कम्बल नीचे गिरा पड़ा था। वह अपनी बर्थ से उठ कर उसे ओढ़ाने लगा। वह जाग पड़ी....कमल ने देखा एक अनुपम सुंदरी, उसकी आंखों में आंखें डाले, सामने पड़ी हुई महक रही है। उसके लहराते हुए काले बालों ने माथे के बहुत से हिस्से पर अधिकार जमा, एक आंख ढँक ली थी। कमल उसके चिकने, मुलायम, अंगूरी चेहरे पर बड़ी देर तक नज़र बिछाए रहा; फिर धीरे धीरे मुँह पास ले जा कर, उसके होंठों को उसने चूम लिया। युवती ने उसके गले में दोनों हाथ डाल दिए।

"नाम न बताओगी ? कमल ने पूछा।

"ना।"

"क्यों ?"

"ज़रूरत नहीं।"

"कहां जा रही हो ?"

"जहां आप जा रहे हैं।"

"सच ?"

उत्तर में उसने सिर हिला दिया। कमल ने उसे ज़ोर से अपनी ओर खींच लिया।

पौ फट रही थी और ढेर का ढेर धुँधला नारंगी प्रकाश, खिड़की के कांच से छनता हुआ आकर, उन दोनों पर पड़ रहा था।

"जब मैंने पहली बार तुम्हें नागपुर स्टेशन पर देखा था तब मुझे ज़रा भी यह खयाल नहीं हुआ था," कमल उसके सिर को दोनों हाथों से थाम कर, उसकी आंखों में देखता हुआ बोला, "कि मैं इतनी जल्दी—उलझ जाऊँगा।"

"और अब ?"

"अब ? . . . .अब तो मैं तुम्हारे प्रेम में सिर तक डूब चुका हूँ। तुमने बड़ी जल्दी असर किया !"

"और मै समझी थी कि आप पर शायद बिलकुल असर न कर पाऊँगी।"

"क्यों ? ऐसा समझने का क्या—?"

"पर देखती हूँ कि अगर कोशिश की जाय तो असर हो ही जाता है। हमारी तरफ़ से बस ज़रा इशारा भर करने की देर होती है, आप लोग तो हरदम तैयार होते ही हैं।"

"किस बात के लिए ?"

"यही—किसी के प्रेम में सिर तक डूब जाने को।"

"खैर, मज़ाक़ छोड़ो।" कमल उसका एक हाथ अपने हाथ में लेकर मसलने लगा। "बोलो मुझसे शादी करोगी ?"

भौंचक्की सी होकर वह उसे देखने लगी; फिर ज़ोर से हँस पड़ी।

"बोलो ना ?"

"आप से ? अभी तो आप ने मुझे बराबर जान भी नहीं पाया है !"

"ज़रूरत से ज़्यादा जान गया हूँ।" कमल ने उसे और भी पास

खींच लिया। "मैं इतना जानता हूँ कि मैं तुम्हें चाहता हूँ। तुम्हारे बग़ैर...."

"मगर मैं तो आप को नहीं चाहती।"

"तुम झूठ बोलती हो," कमल एकदम बोल पड़ा। "बोलो ना, मुझसे शादी करोगी?"

"पागल तो नहीं हो गए?"

"तुम तो बात उड़ा रही हो। ज़रा...."

"उई!" वह एकाएक चीख उठी। "ज़रा देखिए!" उसने तड़प कर कहा—और अपने को कमल के बाहु पाश से छुड़ाने लगी। "मुझे—मुझे कुछ चुभ रहा है! छोड़िए भी—कोई चीज़ गड़ रही है!"

"क्या है?" कमल ने अचंभित होकर पूछा। "क्या हो गया?"

"आप के कोट में—कोई चीज़...."

"ओहो! मुझे माफ़ करो," कहते हुए कमल ने अपने कोट के अन्दर की जेब से वही लाल मखमल की डिबिया बाहर निकाली। "यही चुभ रही थी। मैं—मैं—भूल ही गया था। क्या बहुत ज़ोर से चुभ गई?"

वह डबडबाई आंखों से मुस्कुराने लगी। "क्या है यह?" उसने डिबिया की ओर देखते हुए पूछा।

"डिबिया।"

"इसमें क्या है?"

"अँगूठी। अपने दोस्त की शादी में—"

"बतौर सौग़ात के लिए जा रहे हैं?"

"हां।"

"मैं देख सकती हूँ?"

"बेशक।"

उसने हाथ बढ़ा दिया। कमल ने डिबिया दे दी। डिबिया खोल कर उसने अँगूठी बाहर निकाली और बड़ी देर तक उसको देखने के बाद

अपनी उँगलियों में पहन पहन कर पता लगाने लगी कि किस में ठीक आती है।

"कौन सा पत्थर है ?"

"हीरा," कमल ने उसके अँगूठीवाले हाथ को लेकर कहा। "देखो ना, तुम्हारी ही तरह चमक रहा है।"

वह हँस पड़ी। "तो मैं ही रख लूँ इसे अपने पास ?" उसने इस तरह पूछा मानों थाह लेना चाहती हो। उसकी आंखों में अभी तक आंसू झलक रहे थे।

"मेरा इम्तिहान लेना चाहती हो ?"

"जो समझिए।"

"रख लो बड़ी ख़ुशी के साथ।"

वह फिर कमल से लिपट गई। इसी समय 'छिंदवाड़ा—छिंदवाड़ा' की आवाज़ आई। गाड़ी धीमी होकर रुकने लगी।

"कहां ठहरोगी ?" कमल ने बेचैनी से पूछा। "मुझे पता बता दो, वैसे मैं मिलूँगा।"

"मैं ख़ुद मिल लूँगी," उसने कहा, और उठ कर अपनी साड़ी ठीक करने लगी।

"कहां ?"

"आप को इससे मतलब ? कह दिया, मिल लूँगी।"

"कब ?"

"यही, आजकल में।"

दोनों नीचे उतर पड़े। कुलियों ने सामान उतारा।

"तो यह—"

"हां, पक्का रहा," कहती हुई, मुस्कुराती, कमल पर आख़िरी बार नज़र फेंकती, कुली को साथ लिए, वह गाड़ी के एक थर्ड क्लास कम्पार्टमेंट के पास जाकर खड़ी हो गई, जहां दो-तीन आदमी, जो वेश-भूषा से उसके

नौकर-चाकर मालूम होते थे, बहुत से सामान के साथ, शायद उसी की राह देखते खड़े थे।

कमल तन्मय होकर उसी ओर देख रहा था जब कि किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रक्खा। वह चौंक पड़ा। पीछे मुड़ कर देखा, सुधीर खड़ा था।

"ओहो!" उसने कहा। "सुधीर! तुम!....मैं तो समझा था कि तुम स्टेशन पर न आ सकोगे।"

"मगर देखो, आ ही गया हूँ—तुम्हारी ख़ातिर। चलो ना, खड़े क्यों हो?"

"चलो।"

दोनों आकर मोटर में आगे की सीट पर बैठ गए। कुली सामान ला कर पीछे रख गया। दूसरे क्षण मोटर चल पड़ी।

कमल ने देखा सुधीर ब्याह के कपड़े पहने आया था और उसके हल्दी भी लगी हुई थी। उसे फ़ौरन अँगूठी की याद आ गई। सुधीर क्या सोचेगा जब उसे पता चलेगा कि उसके लिए लाई हुई भेंट उसने एक अनजान युवती को क्षणिक पहचान में दे डाली? परन्तु प्रत्येक घनिष्ठ प्रेम के मूल में क्या क्षणिक पहचान ही नहीं हुआ करती? क्या उसने कोई बड़ा बेजा काम कर डाला? सुधीर के लिए दूसरी चीज़ वह यहीं ख़रीद कर दे देगा। बस, बात ख़त्म हुई। न असल बात सुधीर को मालूम ही होगी और न उसे बुरा ही लगेगा।

"वह कौन थी?" सुधीर ने कमल के खोये हुए चेहरे पर देख कर पूछा।

"कौन?"

"जो तुम्हारे कम्पार्टमेंट से उतरी थी।"

"मुझे ख़ुद नहीं मालूम।" कमल सकपकाने लगा।

"याने?"

"उसने नाम नहीं बताया।"

"अकेली थी ?"

"साथ में नौकर भी थे—दूसरे डब्बे में।"

"कहां ठहरी है ?"

"मालूम नहीं।"

"क्या करती है, कहां रहती है, आखिर कुछ तो तुमने पूछा ही होगा ?"

"पूछा तो बहुत कुछ था लेकिन उसने बताया कुछ नहीं। सिर्फ़ इतना कहा कि दिल्ली से आ रही है। वहां शायद किसी कॉलेज में पढ़ती होगी और छुट्टियों में लौट रही है....पर....पर वह तो शायद तुम्हें जानती है।"

"मुझे ?"

"हां, कहती तो थी कि तुम्हारा—तुम्हारे पिताजी का नाम सुना है।"

सुधीर अचंभित होकर कमल की ओर एकटक देखने लगा फिर कुछ सोचता हुआ, दो—और—दो—चार की निगाह से ताक कर बोला : "दिल्ली से ?"

"कहा तो उसने यही था।"

"अच्छा ! तो...." सुधीर हँसने लगा।

"जानते हो ना ?"

"शायद।"

"यहीं की रहनेवाली है ? कौन है वह ? कहां ठहरी है ?" कमल ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

"पहले यह तो बताओ," सुधीर ने उसे ठेल कर कहा, "कि तुमसे कब, कहां, किस तरह मुलाक़ात हो गई ? क्या कहती थी ?"

कमल उसे सारा क़िस्सा संक्षेप में सुनाने लगा। सुधीर हँसता हुआ, दोनों कान खुले रख कर, धीरे धीरे मोटर लिए जा रहा था कि बात ख़त्म होने से पहले ही कहीं मंज़िल न तय हो जाय।

"अच्छा, तो एक ही जलवे में," सुधीर आखिर बोल उठा, "आप उस पर क़ुर्बान भी हो गए ! नज़र मिलाते ही दिल भी दे दिया ! लेकिन देखो, कमल—मेरे आशिक़ मिज़ाज कमल—तुम्हें क्या हक़ था कि मेरे लिए लाई हुई हीरे की अँगूठी उस लौंडिया को, जिसका नाम-गाम, ज़ातपांत, ठौर-ठिकाना कुछ नहीं मालूम तुमने दे डाली ?"

"तुम नहीं जान सकते, सुधीर, प्रेम में आदमी किस तरह पागल हो जाता है ।"

"शायद तुम्हारे कहने का मतलब है कि पागल आदमी इसी तरह प्रेम करता है—क्यों ?"

"ख़ैर, जो समझो । मगर तुम तो उसे जानते हो ना ?"

"राम न करे मेरा अन्दाज़ ठीक निकले ।"

"क्यों ?"

"हां, तो अब क्या इरादा है ?"

"उसका पता लगाना है । उसे ढूँढ निकालना है ।"

"और फिर ?" कमल की बेताबी और परेशानी देख कर सुधीर से हँसी रोके नहीं रुक रही थी ।

"मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हो, सुधीर !" कमल ज़रा बिगड़ कर बोला, "मैं बहुत सीरियस हूँ ।"

"यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि बात बहुत सीरियस हो चुकी है—ख़ास कर तुम्हारे लिए ।"

"तुम्हारा मतलब ?"

इसी समय मोटर एक आलीशान मकान के सुसज्जित मंडप के सामने आकर रुक गई, सुधीर ने कमल को नीचे उतरने का संकेत किया और ख़ुद भी उतर पड़ा ।

"तुम्हें सब मालूम हो जाएगा; चलो, अंदर चलो," उसने कहा ।

तमाम दिन सुधीर का सजने, सँवरने में बीता । हर घड़ी वह बेचारा

यार लोगों से घिरा फबतियां झेलता रहा । यार लोगों में कमल का भी समावेश था; परन्तु खेल-कूद, हँसी-मज़ाक़ में वह दिल खोल कर भाग न ले सका । उसे कुछ और ही लगी थी । सुधीर से एकांत में कुछ बोलने, पूछने का मौक़ा ही नहीं मिला । शाम को सुधीर के साथ वह मोटर में घूमने जानेवाला था मगर वह भी प्रोग्राम किसी कारण से स्थगित हो गया । रात को उससे बराबर खाया नहीं गया—हर घड़ी उसीका तसव्वुर, हर समय उसीकी याद बनी रही ।

कमल की बेचैनी सुधीर से छिपी न थी । वह मन ही मन उसकी हालत पर हँसता रहा ।

खाने के पश्चात्, लोग नाच में शरीक होने की तैयारी कर रहे थे । कोई नई रेशमी क़मीज़ पहन रहा था, तो कोई बाल सँवार रहा था, कोई रूमाल पर सेंट छिड़क रहा था, कोई बटुए में रुपये गिन रहा था । सुधीर और उसके साथियों के आग्रह करने पर कमल ने भी आखिर ज़ोहरा जान के मुजरे में शरीक होना स्वीकार कर लिया ।

आधी रात के बाद, बाबू गोपीनाथ बूढ़ी पलटन को लेकर महफ़िल से हट गए—और नया ख़ून जोश में आया ।

बिजली की रौशनी से कमरा जगमगा रहा था, लोगों के सिर डोल रहे थे, 'वाह वाह' की ध्वनि उठ रही थी. . . .और घुंघरू की रुमझुम के साथ बाईजी मस्त होकर अलाप रहीं थीं : "सेज चढ़त मोरी पायल बाजें—"

कमल और सुधीर ने भी कमरे में प्रवेश किया और ग़ालीचे पर जा बैठे । कमल, अनमना-सा, गाव तकिए के सहारे बैठा, कुछ सपनाता हुआ, सिगरेट सुलगा रहा था । सहसा कुछ सोच कर वह चौंक पड़ा । ऐं ! यह तो वही पुरानी आवाज़ ! वही लोच, वही लटका, वही मिठास, वही—आंखें चार हुई और कमल के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी । सिगरेट मुंह में लगी की लगी रह गई ।

उधर तबले की ठनक बन्द हुई, गाना समाप्त हो गया।

कमल ने देखा, पानदान लिए, छम छम करती, वह उसी की ओर चली आ रही है। वही नाज़, वही अदा, वही क़यामत ढानेवाली मुस्कुराहट....

"पान लीजिए," उसने पास आकर बड़े अंदाज़ से कहा। उसके दाहिने हाथ की दूसरी उँगली पर हीरे की अँगूठी—कमल की दी हुई हीरे की अँगूठी—चमक उठी।

कमल का दिल, तीर खाए हुए हिरन की तरह, यकबारगी उछल कर बैठ गया। 'तो क्या वह यही थी?' उसने सोचा। 'ज़ोहरा! ज़ोहरा जान! एक हरजाई! दिल्ली की मशहूर—' उसका दिमाग़ चकराने लगा।

ज़ोहरा जान ज़रा और आगे बढ़ आई, फिर, पानदान सामने सरका कर, बिजली गिराती हुई बोली:

"लीजिए ना....पान तो लीजिए।"

कमल भौंचक्का-सा होकर शून्य दृष्टि से उसे ताक रहा था, और सुधीर, पास में पड़ी हुई दियासलाई उठा कर कमल की बेजली सिगरेट को सुलगाने की भरपूर कोशिश कर रहा था....

सिराज का सहारनपुर

"कब तक लौटिएगा ?"

"पीर की सुबह आजाऊँगा ।"

"क्या कोई ज़रूरी काम है ?"

"हां, सरदार अमरसिंह को इन्श्योर करने जा रहा हूँ । सहारनपुर के वो एक बड़े ज़मींदार हैं । बड़ा बिज़नेस हाथ लगने की उम्मीद है ।"

सिराज अहमद अपनी बीवी की कमज़ोरी बखूबी जानते थे । जब कभी किसी काम में वह अड़ंगा लगाती या किसी काम के लिए अपने शौहर को रोकती टोकती, वह चट अपने 'बिज़नेस' का बहाना बना कर उसकी बात काट देते थे । आज सात साल से—जब से उनकी शादी हुई है—सिराज अहमद इन्श्योरेंस कम्पनी के एजेण्ट हैं। उनका बहुत-सा वक़्त घर से बाहर ही गुज़रता है । कभी-कभी लाहौर से बाहर उन्हें दौरे पर भी जाना होता है । असल में बात तो यह थी कि उनकी तबीयत घर पर न लगती थी । कुछ तो उन्हें सफ़र की मनमुख़्तारी पसन्द थी, कुछ पीने का भी शौक़ था और फिर कुछ बुतपरस्ती का भी ।

"खाना खाकर जाइए; अभी तैयार हुआ जाता है," उनकी बीवी ने कहा ।

"नहीं, रहने दो । स्टेशन पर ही खा लूँगा ।"

मुँह में सिगरेट दबाए, हाथ में छोटा-सा सूटकेस लिए सिराज अहमद घर से निकल पड़े । नुक्कड़ पर तांगा खड़ा था । उसी पर सवार हो लिए ।

"कहां को हुज़ूर ?"

"माल रोड ।"

विण्डसर होटल से पहले तो उन्होंने तीन बोतलें बीअर की ख़रीदीं और एक गोल्डफ़्लेक का डब्बा।

"लारेन्स गारडन, हुज़ूर ?"

"नहीं, जमनादास की चाल।"

तांगा गली में मुड़ गया। सिराज ने पहली बोतल तो तांगे में ही खोल कर मुँह में उँडेल दी।

"देखो, तांगावाला !"

"जी, हुज़ूर !"

"लाहौर देखा है ?"

"देखा क्यों नहीं, हुज़ूर।"

"किसी को जानते हो ?"

"जानता क्यों नहीं, हुज़ूर; बीस बरस हो गए तांगा चलाते; इतना भी—"

"कौन है ?"

"हुज़ूर के लायक़ ही है। मामूली चीज़ नहीं—इने-गिनों के पास ही जाती है। कहिए तो—"

"क्या उम्र है ?"

"होगी, यही, बस बाईस, तेईस।"

"ला सकते हो ?—अभी ?"

"कोशिश करके देखता हूँ, हुज़ूर; पर ज़रा महँगी चीज़ है, हुज़ूर।"

"तुम इसकी परवाह मत करो—बस, रोक लेना—हां, उस क़न्दील के पास, बस।"

जमनादास की चाल के पास तांगा रुक गया। लकड़ी का पुराना टूटा हुआ फाटक भिड़ा था। कुण्डी हटाकर पट खोल दिया गया। सिराज, तांगेवाले को साथ ले, अन्दर दाख़िल हुआ। क़रीब आधी चाल की रौशनी गुल हो चुकी थी। बरामदे में चौकीदार लेटा था, जो आवाज़

सुनते ही हड़बड़ा कर उठ बैठा। बिजली की रौशनी में सिराज को वह पहचान गया।

"कमरा खुला है ?" सिराज ने पूछा।

"नहीं साहब, अभी खोले देता हूँ।"

चौकीदार ने बाज़ूवाला, पन्द्रह नम्बर का कमरा खोल दिया। तांगे-वाले ने सूटकेस अन्दर लाकर रख दिया।

"तो तुम जाओ, तांगावाला।" सिराज ने उसे पांच रुपये का एक नोट पकड़ा दिया। "जाओ, ले आओ—रात भर के लिए। देखो, जल्दी करना।"

"अभी लाया, हुज़ूर !" कहकर तांगेवाला चल दिया।

सिराज ने बत्ती जलाई, कपड़े उतारे और दूसरी बोतल निकाली.... पुराना-सा लोहे का एक पलंग, एक चटाई, तीन पैरोंवाली एक तिपाई, कपड़े की एक आराम-कुर्सी, पानी की सुराही, टूटा हुआ गिलास, शराब की कुछ ख़ाली बोतलें, मैला-सा एक तवाल और दीवारों पर पान की पीक—यही सिराज का सहारनपुर था। अक्सर, हफ़्ते के अख़ीर, अगर दौरे पर जाना न हुआ, तो सिराजअहमद इसी कमरे में, जो उन्होंने किराये पर ले रक्खा था, आजाया करते और दिल खोल कर शराब-कबाब उड़ाते। हर दफ़ा साथ में कोई न कोई ज़रूर होती।

तीसरी बोतल खुलते खुलते चौकीदार होटल से खाना भी ले आया।

*   *   *

आधी रात को वही तांगा मालरोड पर फिर से चला।

*   *   *

चार बज-गए—पांच बज गए—छः बज गए....लेकिन सिराज ने दरवाज़ा न खोला। तांगेवाला परेशान हो गया। सुबह होने से पहले ही उस स्त्री को वापस पहुँचा देने का उसने क़रार किया था—और अब

तो दिन निकलने को था ! तांगेवाला सिराज के कमरे के पास जाकर कुण्डी खटखटाने लगा।

"बस, हुज़ूर, अब तो छोड़िए—दिन निकलने को है !"

मगर कोई जवाब न मिला। और आध घण्टा सब्र कर लेना तांगेवाले ने मुनासिब समझा।

आध घण्टे बाद भी कुण्डी खटखटाने पर कोई जवाब न था।

"हुज़ूर, जाने दो, हुज़ूर—बहुत देर हो गई—दिन निकल आया ! हुज़ूर....हुज़ूर...."

इस बार भी कोई जवाब न मिला। बिल्कुल सन्नाटा था। तांगेवाले के कान टनके। वह चलता बना।

*　　　*　　　*

उस दिन शाम को जब दरवाज़ा तोड़ा गया, कमरे के अन्दर फ़र्श पर दो लाशें लहू में शराबोर पाई गईं। एक सिराज अहमद की थी और दूसरी थी उनकी बीवी की।

लाल कोठी

जब हम लोग म्यूज़ियम, शिवबाड़ी और जूना गढ़ देख कर लौटे तो छः बज रहे थे।

"भई, खाना तैयार है; मँगवाया जाय ?" द्वारका ने पूछा।

"यार," मैंने कहा, "अभी तो भूख जरा भी नहीं है।"

"बगैर खाए तो तुम जा नहीं सकते।"

"तो साथ बँधवा देना।"

"अच्छा, मगर चाय, लस्सी कुछ तो—"

"लस्सी चाहे मँगवा लो।"

द्वारका लस्सी मँगवाने नीचे चला गया।

सामान तो मेरा बँधकर तैयार ही था। मैं कमरे से बाहर निकल कर टहलने लगा। आस्मान में कुछ पतंगें तनी हुई थीं।

जिस छत के किनारे वाले एक कमरे में मेरे रहने का प्रबन्ध किया गया था वह द्वारका की उस भव्य कोठी के चौथे मंज़िले पर थी। यहां से सारा शहर बख़ूबी दिखलाई देता था। मारवाड़ के शहरों की ढब ही निराली होती है। मकान अक्सर छज्जेदार, ऊँचे और पत्थर के बने होते हैं, जिन पर कमाल की नक़्क़ाशी होती है। सोकर उठने के बाद इसी छत पर निकल कर हर रोज़ मैं बड़ी देर तक टहला करता था; और राजपूती ठाट पर बने हुए उन बेशुमार मकानों की छोटी छोटी खिड़कियों के पट एक के बाद एक खलते हुए देखा करता था। उन पांच-छः दिनों में ही अपनी इस छत के चारों ओर के हर मकान, हर खिड़की और हर छत से मैं भली भांति परिचित हो गया था। कहते हैं, दिल में रहते रहते दर्द भी दिल हो जाता है। आज बीकानेर छोड़ते हुए मुझे दुःख हो

रहा था। बीकानेर ही अकेला नहीं छूट रहा था; द्वारका छूट रहा था; मेरा वह कमरा छूट रहा था; उस कमरे की दीवारों पर पुराने किसी चित्रकार के बनाये हुए तैल चित्र छूट रह थे, जिनको मेरी आंखें हर रोज़ सोने से पहले घंटों बड़ी दिलचस्पी के साथ निहारा करती थीं; कबूतर का वह जोड़ा छूट रहा था जो मेरे कमरे की एक जालीदार खिड़की में बसेरा लिया करता था; वह ऊँट भी छूट रहे थे जो सुबह-शाम पीठ पर पानी की पखाल लादे मेरी खिड़की के पास वाली गली से गुज़रा करते थे....

चट चट सीढ़ियां चढ़ता हुआ द्वारका मेरे पास आया।

"देखना, पतंग अपनी ही छत पर गिरने वाली है। देखो, हवा इधर की ही है।"

"कौन-सी पतंग कटेगी, बोलो," मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा। पतंग की लड़ाई में मुझे भी मज़ा आ रहा था। कई लोग अपनी अपनी छतों पर निकल कर तमाशा देख रहे थे।

"हरी वाली पतंग के आसार ठीक नहीं। देखो, चक्कर खाने लगी ....कटती ही है अब—"

दूसरे क्षण हरी पतंग पार थी। चकराती, मँडराती वह हमारी ही छत की ओर आने लगी। आस-पास की तंग गलियों में लड़के बांस, लकड़ियां ले-ले कर पतंग पकड़ने और मांझा लूटने के लिए दौड़ने लगे। एक शोर बरपा हो गया।

द्वारका लपका, पर डोरा उसके हाथ न लगा। पतंग ज़रा बच कर बाज़ू वाले लाल पत्थर के मकान की छत पर जा गिरी।

"लाल कोठी!" द्वारका बोल उठा। "पतंग तो बस लाल कोठी पर क़ुर्बान हैं! जितनी भी कटती हैं लाल कोठी पर ही गिरती हैं। देखो न लौंडों को; उन्हें पता था कि लाल कोठी पर ही पतंग टपकेगी; बस, पहले से ही चढ़ कर वहां मौजूद!"

"क्यों, द्वारका, इस लाल कोठी में अब तक मुझे कोई सूरत नहीं

दिखलाई दी ! कौन रहता है इसमें ?" मैंने साश्चर्य पूछा। "मकान तो इतना आलीशान है मगर इसकी खिड़कियों के पट मैंने कभी खुले नहीं देखे--न कभी घाघरा या ओढ़नी ही सूखती देखी है। किसका मकान है ?"

"अरे, क्या बताएँ ! ....इसका लम्बा क़िस्सा है। पिछले तीन साल से तो ख़ाली ही है। लोग कहते हैं कि इसमें भूत रहते हैं।"

बदरी दो गिलास लस्सी लिए खड़ा था। द्वारका एक गिलास मुझे देकर दूसरा आप लेता हुआ बोला :

"क्यों रे, बदरिया, फिर लाल कोठी में अभी तक कोई नहीं आया ? सुनते हैं कोई इसे ख़रीद रहा था ?"

"कूण मोल लेसी, मालिक, इसै भूतिया घर नै !" बदरी भौंहें तान कर आंखें मटकाता हुआ बोला। "कैरी सामत आई जिको अठे मरण वास्ते रैसी--स्यामा-रतन जिका बसै है ईमें !"

खाली गिलास खन खन बजाता हुआ बदरी नीचे चला गया।

"क्यों, द्वारका," मैंने पूछा, " 'भूतिया घर', 'स्यामा रतन' यह क्या मामला है ?"

"मामला-वामला कुछ नहीं, एक छोटी-सी दर्द भरी प्रेम-कहानी है। बात वैसे तो ज़रा लम्बी है, मगर मोटर आने में भी अभी देर है। अगर सुनना चाहो तो सुन लो।"

"ज़रा ठहरो," मैंने कहा, "कमरे से सिगरेट का डब्बा ले आऊँ।"

छज्जे पर पत्थर की बनी हुई एक बेंच थी। उसी पर हम लोग बैठ गए। द्वारका, मुंह से धुएँ के गोलाकार लच्छे उड़ाता हुआ, लाल कोठी की चौथी मंज़िल की एक खिड़की की ओर हाथ से इशारा करता हुआ बोला :

"उसी खिड़की से मैंने उसे पहली बार झांकते हुए देखा था।"

"किसे ?" मैंने पूछा।

"श्यामा को—उसका पूरा नाम श्याम कुंअरि था। लेकिन तुम ऐसे नहीं समझोगे। अच्छा, तो सुनो, बिल्कुल शुरू से कहता हूँ.... जब सेठ सुगनचंद की यह लाल कोठी बन कर तैयार हो गई तो उन्हें चिंता हुई कि उनके बाद इस आलीशान इमारत में कौन रहेगा। सुगनचंद की उम्र ढलती पर थी और स्त्री मर चुकी थी। संतान कोई न थी। इस अवस्था में दूसरी शादी करके संतान की आशा करने के बजाय किसी लड़के को गोद ले लेना ही उन्होंने ज़्यादा मुनासिब समझा। सेठ जी सट्टा खेलने के आदी न होने के कारण एक और एक ग्यारह न गिनकर सिर्फ़ दो ही गिनना अच्छी तरह जानते थे; और इसी सबब से मतलबी लोगों के बेहूदा बहकावे में न आकर उन्होंने अपने एक रिश्तेदार को, जिसका नाम चंपालाल था, गोद ले लिया। और उसी वर्ष अपने उस दत्तक पुत्र का ब्याह बड़ी धूम-धाम से कर सेठ सुगनचंद ने अपनी लाल कोठी आबाद कर ली।

"चंपालाल को मैं बचपन से जानता था। हम लोगों ने कई मर्तबा एक दूसरे की पतंग काटी थी। उसके ब्याह में मैं भी आमंत्रित था। जिस वर्ष उसका ब्याह हुआ उसी वर्ष सेठ सुगनचंद ने सदा के लिए आंखें बन्द कर लीं। चंपालाल ही अब उनकी सारी संपत्ति का हक़दार हुआ।

"चंपालाल की स्त्री श्याम कुंअरि जोधपुर से आई थी। अकेली नहीं। साथ में बहुत-सा धन, बहुत-से कपड़े, बहुत-से गहने, बहुत-सा रूप, बहुत-सा यौवन और बहुत-सी आशाएँ लाई थी—हां, और एक प्रेमी भी साथ था। जान पड़ता है रतनसिंह से उसका पुराना संबंध था। जब श्यामा जोधपुर से बीकानेर चली आई तो रतनसिंह को उसका विछोह असह्य हो गया। रतन राजपूत था। थोड़ी-सी ज़मीन और बूढ़ी मां ही उसकी सारी संपत्ति थी। मां ने पहले तो रतन को जोधपुर छोड़ने से रोका, पर जब उसने ज़्यादा ज़िद की और कहा कि बीकानेर सरकार की पलटन में उसे नौकरी मिल रही है तो बेचारी ने आंखों में बहुत-सा

पानी लाकर इजाज़त दे दी। रतन ने मां को भी साथ चलने को कहा; मगर उसने अपना पुराना घर छोड़ना पसंद न किया।

"रतनसिंह को सच ही बीकानेर की पलटन में जगह मिल गई। वह अपनी मां को बराबर चिट्ठी पत्री लिखता और महीने में एक दो बार ख़ुद जोधपुर जाकर उसे देखभाल भी आता।

"न जाने कैसे, रतनसिंह और चंपालाल में परिचय हो गया और रोज़ रात को दोनों में शतरंज की बाज़ी जमने लगी। खेलते समय यद्यपि रतन की आंखें शतरंज के पट पर होतीं, हाथ मुहरों पर होता, कान बैठक के किनारे वाले दरवाज़े पर ही होते। मंद से मंद पद चाप और धीमी से धीमी चूड़ियों की खनक भी उसके कानों तक पहुँच ही जाती। एक दिन रतन ने देखा दरवाज़े की दराज़ में काग़ज़ का एक टुकड़ा लटक रहा था। चंपालाल के पीछे खूँटी पर रतन का कोट टँगा हुआ था। रतन अपने कोट से रूमाल निकालने के बहाने उठा और धीरे से उसने वह काग़ज़ का टुकड़ा खींचकर अपनी जेब में रख लिया।

"हां, तो," द्वारका ने एक लम्बा कश लेकर सिगरेट का टुकड़ा फेंक दिया, "रतन जब घर लौटा तो सबसे पहले अपनी जेब से उस काग़ज़ के टुकड़े को निकाल कर क़ंदील के पास गया और पढ़ने लगा। उसमें लिखा था: 'पीछे की छत का किवाड़ खुला रहेगा। रात को ग्यारह बजे।'

"तब से रतन और श्यामा बराबर मिलते रहे। श्यामा ने शायद नौकर, नौकरानियों को मिला लिया था। जब रतन को श्यामा से मिलना होता या जब श्यामा की नौकरानी, गोपी, उसके लिए बुलावा लाती, रतन फ़ौरन दीवार फांद लाल कोठी के पीछे वाली छत पर जा पहुँचता। यहां के मकानों की दीवारें और छतें एक दूसरे से किस तरह मिली हुई होती हैं, तुम्हें मालूम ही है। एक घर से दूसरे में प्रवेश कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। और फिर लाल कोठी की वह पीछे वाली

छत तो तुम देख ही रहे हो। खैर, कई महीने बीत गए। श्यामा और रतन का प्रेम-मिलन चलता रहा; और चंपालाल को इसका कुछ भी भान न हुआ।

"श्यामा, रतन को कहां तक चाहती थी या रतन श्यामा को कितना प्यार करता था यह कहना बहुत मुश्किल है। जब कभी मज़ाक़ करता हुआ रतन उससे कहता : 'मां ने मुझे बुलाया है; और अब के शायद मैं न लौटूं।' तो श्यामा की आंखों में आंसू उमड़ आते। 'अगर तुम न लौटे,' वह कहा करती, 'तो मैं विष खा लूँगी।' रतन उसके गालों को चूम कर कहता : 'पगली कहीं की! ऐसा कभी हो भी सकता है?' फिर उसकी मुद्रा गंभीर हो जाती। वह कहता : 'श्यामा, तुम अगर मेरी ही स्त्री होतीं तो कितना अच्छा होता!'

" 'भाग्य का लिखा कौन मेट सकता है, रतन!' रतन के गालों पर वह अपने मुलायम हाथ फेरने लगती। मैंने अपनी ओर से तो कुछ बचा नहीं रक्खा है. . . .सब कुछ तुम्हीं को तो दिया है।'

" 'हां, श्यामा, मैं बड़ा स्वार्थी हूँ। शायद अपने हिस्से से ज़्यादा चाहता हूँ।'

" 'रतन,' श्यामा उसका हाथ पकड़ कर कहती, 'चलो, कहीं भाग चलें—दूर—बहुत दूर. . . .'

" 'मेरे पास तो धन-दौलत है नहीं। ये कपड़े, ये गहने, ये नौकर-चाकर, यह मकान, यह आराम तुम्हें वहां मेरे साथ कैसे नसीब होगा, श्यामा?'

" 'मुझे यह कुछ नहीं चाहिये,' वह कहती। 'तुम्हारे साथ, जहां चाहोगे, मैं चली चलूँगी।' फिर वह रोने लगती।

"एक पूर्णिमा की रात का मैं अब ज़िक्र करता हूँ। क़रीब बारह बजे होंगे। बिल्कुल सन्नाटा था। लाल कोठी में लगी हुई रजनीगंधा महक रही थी। और उस खिड़की में—" द्वारका ने फिर लाल कोठी

वाली चौथी मंज़िल की उसी खिड़की की ओर इशारा किया, "श्यामा और रतन बड़ी देर से एक दूसरे के बाहुपाश में जकड़े हुए आकाश में चांद और बादलों की क्रीड़ा देख रहे थे। श्यामा रह रह कर कुछ परेशान-सी हो पड़ती थी।

" 'तुम आज क्यों आए ?' श्यामा ने पूछा। 'मैंने गोपी के हाथ कहला भी भेजा था कि आज न आना। तुमसे नहीं कहा उसने ?'

" 'कहा था। पर कल मैं जोधपुर जा रहा हूँ। मां बीमार है। सोचा, जाने से पहले तुमसे मिलता जाऊँ; मालूम नहीं कब आना हो.... श्यामा, न जाने क्यों मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि यह अपना आख़री मिलन है !'

" 'नहीं, नहीं, रतन, ऐसा न कहो,' श्यामा ने उसके मुँह पर मेंहदी-रची अपनी लाल हथेली धर दी। 'ऐसा न कहो। तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकूँगी !....पर—पर तुम अभी चले जाओ।'

" 'क्यों ?'

" 'आज मैं उनके साथ....'

" 'तो फिर उन्होंने आने कैसे दिया ?'

" 'वे सो रहे थे। गोपी ने चुपके-से आकर मुझे जगाया; और मैं—'

" 'चुपके से उठ कर चली आई ?'

" 'चले जाओ, रतन,' श्यामा ने व्याकुल वाणी में कहा। 'चले जाओ। देखो कहीं उनकी नींद टूटी और उन्होंने मुझे वहां न पाया तो—'

" 'अच्छा, श्यामा,' रतन ने उसकी आंखों में हसरत भरी निगाह से देखा। 'पर आज तुम कितनी सुन्दर लग रही हो !' फिर उसने उसके कोमल कपोलों को चूमा, उसके सुगन्धित बालों को चूमा, चांदनी में जगमगाते हुए उसके लाल-जटित बोर को भी चूमा।"

"बोर क्या चीज़ ?" मैंने पूछा।

"बोर ? मारवाड़ी औरतों के माथे पर एक गोलाकार ज़ेवर तुमने नहीं देखा ?—सांकल में बँधा हुआ होता है ?"

"अच्छा, जो 'सर्च-लाईट' की तरह—वही तो नहीं ?"

"हां, हां. वही," द्वारका ने हँस कर कहा। "बोर सुहाग की निशानी है....हां, तो इसी समय टन से एक बजा। श्यामा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करने लगी।

" 'जाओ, रतन, भाग जाओ जल्दी से।'

" 'तुम्हारा बोर कितना सुन्दर है ! तुम्हारे माथे पर कितना भला लगता है ! श्यामा—जान पड़ता है मैं तुम्हारे इस बोर से भी प्रेम करने लग गया हूँ।'

" 'यह बोर तुम्हारे ही लिए तो पहनती हूँ, रतन—'

"इसी पल किसी के आने की आहट हुई। दोनों ने चौंक कर द्वार की ओर देखा और फिर एक दूसरे की ओर।

" 'रतन !' श्यामा ने घबरा कर कहा।

"रतन ने उसे और ज़ोर से जकड़ लिया। दरवाज़े की कुंडी किसी ने खटखटाई। श्यामा के माथे पर बड़े बड़े मोती झलकने लगे। उसने अपने को छुड़ा लिया। दौड़ कर वह दरवाज़े पर गई, फिर लौट आई—'शायद वे हैं !' उसने कराह कर कहा।

"कुंडी बराबर बज रही थी।"

" 'कौन है ?' श्यामा ने ज़ोर से पूछा।

" 'मैं, खोलो।'

"आवाज़ चंपालाल की थी।

"श्यामा ने रतन का हाथ पकड़ कर कहा : 'भाग निकलो कहीं से, रतन....सुनो, जल्दी करो—'

"रतन की दृष्टि बड़े वेग के साथ उस कमरे से बाहर निकलने का

रास्ता खोजने लगी। दरवाज़ा वही एक था जिस पर चंपालाल खड़ा था....रतन सहम गया।

" 'रतन, रतन--मेरी लाज रख लो, रतन....' श्यामा का गला सूख गया। वह बिजली की तरह कांप उठी।

"रतन ने फिर से श्यामा को पास खींच लिया। उसके गालों को एक बार फिर से चूमा--उसके बोर को भी चूमा। उसकी आंखों में एक क्षण फिर उसी दर्द, आह और प्यार भरी निगाह से देखा। 'जाओ, श्यामा, खोल दो दरवाज़ा,' उसने कहा; और दूसरे क्षण वह खिड़की के पास था।

"ज्योंही श्यामा ने दरवाज़ा खोला और चंपालाल ने अन्दर प्रवेश किया, उस खिड़की के नीचे वाली गहरी, सुनसान, अँधियारी गली में 'भद्द' की एक आवाज़ हुई जो सिर्फ़ श्यामा ही के कानों तक पहुँच सकी....

" 'श्यामा!' चंपालाल ने अपनी स्त्री के दोनों कंधों को हाथों से पकड़ कर कहा, 'अभी अभी मैंने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा है! तुम--तुम चली क्यों आईं?'

" 'वहां बड़ी गर्मी थी; मुझे नींद न आई।'

" 'मैं भी न सो सका। नींद में मुझे बड़ा भयानक स्वप्न दिखाई दिया। मैंने देखा कि हम लोग किसी पर्वत पर चढ़ रहे हैं। सहसा तुम्हारा पैर फिसल गया और तुम चट्टान के नीचे गिर गईं। मैं दौड़ कर तुम्हारे पास पहुँचा पर तुम....तुम....पर....अचानक मेरी नींद खुल गई; और जब मैंने तुम्हें बिस्तर पर न पाया तो....'

"श्यामा ने अपनी ओढ़नी से माथे पर का पसीना पोंछा और मुस्कुराने की चेष्टा की; पर उलटे उसकी आंखों में नमी आ गई।

" 'क्यों, तुम कांप क्यों रही हो?'

" 'कहां कांप रही हूँ?' श्यामा का कंठ बेसुरा था।

" 'क्या बात है, श्यामा? तबीयत तो ठीक है न?'

" 'मैं—अच्छी हूँ; तुम्हीं घबराए हुए हो।' उसने फिर हँसने की कोशिश की मगर पहले की ही तरह असफल रही।

"कोने पर पलंग पड़ा हुआ था। चंपालाल ने श्यामा को उसी पर बिठा दिया और आप भी उसके बाज़ू में बैठ गया, श्यामा ने उसके सीने पर सिर टिका दिया।

" 'क्या बात है, बोलो तो ? . . . . अरे ! तुम तो पसीने में तरबतर हो ! श्यामा, मुझसे कहो।' चंपालाल ने आज बड़े प्यार के साथ उसके बालों पर हाथ फेरा; फिर उसकी ठोड़ी पकड़ कर सिर ऊपर उठाया। 'श्यामा—श्यामा. . . .'

"श्यामा बेहोश हो चुकी थी।"

द्वारका ने एक दीर्घ निश्वास लिया, दूसरी सिगरेट जलाई और फिर दास्तान शुरू कर दी।

"सुबह को सारा बीकानेर उस गली में उलट पड़ा। रतन का मृत शरीर ज़मीन पर लहूलहान पड़ा हुआ था। पुलिस ने तहक़ीक़ात की। किसी ने कहा : 'मोटर से टकरा गया होगा।' कोई बोला : 'किसी ने डंडे से मारा है।' ख़ैर, क़िस्सा-कोताह कुछ पता न चला. . . .

"उधर श्यामा का हाल बुरा था। उस रात जब उसकी बेहोशी दूर हुई तो बुख़ार चढ़ आया और बढ़ता ही गया। जैसे तैसे दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते. . . .उसकी हालत बदतर ही होती गई। बुख़ार में उसने बहुत कुछ बड़बड़ाया। हर समय 'रतन, रतन' की रट लगाए रहती। चौथे या पांचवें दिन सूर्योदय के साथ साथ लाल कोठी की शमा भी गुल हो गई. . . .चंपालाल की खोज हुई; पर उसका कहीं पता न था। लोगों का ख़याल है कि उसने संन्यास ले लिया। बाद में यह भी ख़बर उड़ी कि किसी ने उसे बंबई में देखा है। ख़ैर; लेकिन उस दिन से लाल कोठी सूनी है। लोग कहते हैं कि इसमें श्यामा, रतन का वास है. . . ."

द्वारका की 'दर्द भरी प्रेम-कहानी' समाप्त हो चुकी थी। मैं जानता था कि द्वारका कवि है और उसका कविहृदय लाल कोठी वाली किसी घटना को 'दर्द भरी प्रेम-कहानी' बनाने में कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खेगा; फिर भी उसकी 'दर्द भरी प्रेम-कहानी' ने मुझ पर पूरा पूरा असर किया। वह खुद भी पत्थर की बेंच पर पत्थर की मूर्ति के समान बैठा हुआ लाल कोठी की ओर ताक रहा था—तभी बदरी ने आकर कहा : "मालिक, मोटर तैयार है।"

इम्तिहान

वकालत के इम्तिहान में जब कैलाश लगातार दो मरतबा फ़ेल हो गया तो पिताजी ने झुंझला कर मांजी से कहा : "कहता न था मैं कि ज़रा ठहर जाओ, अभी लड़के की शादी न करो, पहले उसे लॉ कर लेने दो; मगर तुम्हें तो बहू घर में लाने की पड़ी थी। लो, अब आरती उतारो अपने बेटे की।"

"ऐसा क्या ग़ज़ब हो गया जो तुम तिल का ताड़ बना रहे हो ?" मांजी भी बिगड़ पड़ीं। "दुनिया में जैसे और किसी का लड़का फ़ेल हुआ ही न होगा। पढ़ा तो था बेचारे ने।"

"जी हां; ख़ूब पढ़ा था। दिन-रात बहू के आस-पास चक्कर काटने से कोई इम्तिहान पास नहीं हो जाता। जब देखो तब ग्रामोफ़ोन बज रहा है, कैरम खेला जा रहा है, मोटर पर सैर हो रही है—आख़िर पढ़ाई के लिए वक़्त मिले भी तो कैसे मिले !"

"ज़रा तुम अपनी तो कहो। तुम्हीं ने कौन तीर मार लिया था। मेरे आने के बाद वे दिन भूल गए जब हरदम मेरे पास बैठे बैठे मेरे पेटिकोट सिया करते थे ? आख़िर तक तो बी० ए० पास कर न सके।"

"आपकी कृपा के लिए मैं आभारी हूँ," पिताजी ने ताना कसा। "मगर अब अपने बेटे की ज़िन्दगी तो न बिगाड़ो। मेरा तो निभ ही गया जैसे तैसे।"

"ईश्वर उसका भी निभा देगा," मांजी ने कहा, फिर मुस्कुरा कर बोलीं : "ख़ुद तो बी० ए० में तीन बार फ़ेल हुए थे; क्या वह बेचारा वकालत में दो बार भी न हो ?"

अपनी बातों का कुछ असर न होते देख पिताजी ने ज़रा और ज़्यादा

गम्भीर सूरत बना कर, बुझा हुआ चुरुट फिर से सुलगाया। "देखो जी," उन्होंने कहा, "बात हँसी में न ले जाओ। लड़के की ज़िन्दगी का सवाल है। अगर इस तरह एक बार और फ़ेल हुआ तो उसका हौसला ही जाता रहेगा। कहे देता हूँ, बिना लॉ किये कोई चारा नहीं। वे दिन गए जब नौकरी खुद सर के बल दौड़ी चली आती थी।"

मांजी की समझ में पिताजी की बात तो नहीं आई, परन्तु उन पर उनकी गम्भीर आवाज़ का असर अवश्य हुआ। "तो तुम आख़िर चाहते क्या हो?" वे बोलीं।

"यही कि अबकी बहू को मायके भेज दिया जाय और जब तक कैलाश का इम्तिहान ख़त्म न हो जाय, उसे वापस न लाया जाय।"

पिताजी का यह विचार मांजी को बिलकुल अनुचित जान पड़ा। यह तो कैलाश और बहू के प्रति ज़्यादती होगी, अन्याय होगा। मगर पिताजी का चुरुट सुलग चुका था, उनके मुंह और नथनों से गाढ़ा गाढ़ा धुआं निकल कर मूछों के घने बालों में लिपट रहा था। बात काटने की मांजी की हिम्मत न हुई। बात काटना था भी बेकार। अब तो वह हो कर ही रहेगी, क्योंकि बहू ने ये बातें ज़रूर सुन ली होंगी। दरवाज़े की आड़ में होती हुई चूड़ियों की खनखनाहट उसकी उपस्थिति की काफ़ी बड़ी सूचक थी।

चाय की प्याली लिए बहू अन्दर आई और पिताजी को पकड़ा कर चुपचाप चली गई।

चुरुट के सिरे पर जमी हुई राख की लम्बी तह की ओर देखते हुए पिताजी ने धीरे से कहा:

"शायद सुन लिया हो बहू ने।"

"सुनेगी नहीं! ऐसी बातें भला इतने ज़ोरों से चिल्ला कर कही जाती हैं?....न जाने मन में क्या समझती होगी बेचारी।"

पिताजी को अब पश्चाताप होने लगा। ग़ुस्सा उन्होंने चुरुट पर

निकाला। न मांजी पर रोब जमाने के लिए वे चुरुट सुलगाते और न आवाज़ ही उनकी उतनी ऊँची चढ़ती। मन ही मन खीझ कर उन्होंने चुरुट फेंक दिया और प्याली मुँह से लगाई। गर्म चाय से जीभ झुलस जाने पर उन्हें होश आया कि वे शाम की चाय पी रहे हैं सुबह की लस्सी नहीं।

"तश्तरी में उँड़ेल लो न," मांजी ने अपनी हँसी को रोकते हुए कहा। "ऐसी गर्म गर्म क्यों पी रहे हो?"

"क्या गर्म चाय पीना गुनाह है?" पिताजी तमक उठे।

"पियो, मेरा क्या। तुम्हारे ही भले के लिए कह रही थी कि कहीं मुंह-उँह न जला बैठो।"

झुलसी हुई जीभ ऐंठ रही थी मगर पिताजी की अकड़ कम न हुई। "आदमी चाय पिए तो गर्म पिए," उन्होंने कहा, "वरना तुम्हारा बनाया हुआ केवड़े का शरबत क्या बुरा है?"

"अच्छा बाबा शौक़ से पियो। कहो तो और ला दूँ बना कर एक प्याली उबलती हुई।"

पिताजी को अब सच में ग़ुस्सा आ गया। "जाओ जी यहां से, अपनी यह टें टें बंद करो," उन्होंने कहा।

"यह लो मैं अभी चली, पर ज़रा उधर तो देखो तुमने वह क्या कर दिया।"

पिताजी ने देखा मोढ़े के पास ही धुएँ की पतली-सी एक लकीर ऊपर को उठ रही है। लपक कर उन्होंने वहां पड़ा हुआ चुरुट उठा लिया, लेकिन अभी खरीदे हुए उनके बढ़िया बहुमूल्य क़ालीन में सूराख़ पड़ चुका था।

"तुम भी खड़ी देखती रहीं। पहले बतलाया भी नहीं!" चाय की प्याली में चुरुट बुझाते हुए पिताजी ने मांजी को फटकारा। "लो अब तो दिल की हुई तुम्हारे?"

मगर जवाब देने के लिए वहां था कौन ? मांजी तो कब की चलती बनीं ।

पिताजी उबल उबल कर रह गए । 'लीडर' को—जिसमें लॉ फ़ाइनल का नतीजा छपा था—उन्होंने दूर दे मारा । हवा के झोंके से उड़ कर अख़बार कमरे के कोने में रखी हुई एक तिकोनी मेज़ के पैरों से जा लिपटा और ज़ोर ज़ोर से वहां फड़फड़ाने लगा । दिल की आग बुझाने के लिए पिताजी को दूसरा चुरुट सुलगाना पड़ा । 'नहीं, बहू को मायके भेजना ही होगा,' उन्होंने मन में कहा । ऐसे तो कैलाश जन्म भर इम्तिहान देता रहे, कभी पास न होगा ।'

पास न होने का ग़म पिताजी से भी ज्यादा कैलाश को हुआ—इसलिए नहीं कि उसका एक साल और जाता रहा, बल्कि इसलिये कि उसके फ़ेल होने का मूल कारण अपने को समझ माया बहुत दुखी हो गई । कैलाश से आंख तक अब वह नहीं मिलाती । "ऐसी स्त्री किस काम की जो पति की उन्नति में बाधक हो," उसने एक दिन कैलाश से कहा ।

"तुम ऐसा क्यों समझती हो कि मेरी उन्नति में तुम बाधा बनी हो ?" कैलाश ने पूछा ।

"और नहीं तो क्या ?" माया बोली । "मेरे इस घर में आने से पहले तो तुम कभी फ़ेल नहीं हुए थे ।"

"तो इसमें ताज्जुब की क्या बात है ?" कैलाश मुस्कुराया । "तुम्हारे जैसी उर्वशी पाकर भी अगर मैं इम्तिहान पास कर जाता, तो इससे बढ़ कर तुम्हारा और कोई अपमान न होता । मेरा फ़ेल होना हमारे सुखी दाम्पत्य जीवन का सुबूत है । समझीं ?"

"जी, मगर वह सुबूत तो तुम पिछले साल ही दे चुके थे । क्या उसका इस साल भी दोहराना ज़रूरी था ?"

कैलाश ठहाका मार कर हँस पड़ा । "देखो, माया देवी, नाराज़ न

हो," वह बोला। "अपनी युनिव्हर्सिटी की क़सम खा कर कहता हूँ कि अबके पास हुए बिना न रहूँगा। बस?"

"यही तो अच्छा नहीं लगता जो तुम हमेशा बात हँसी में उड़ा दिया करते हो। मांजी, पिताजी मन में क्या कहते होंगे?"

"यही कि लड़का बड़ा होनहार निकला—युनिव्हर्सिटी एक्ज़ामिनेशन तक उसकी असीम पत्नी-भक्ति में खलल न डाल सका।"

बहुत कोशिश करने पर भी माया हँसी न रोक सकी। "जाओ, मैं अब तुमसे कभी न बोलूंगी," उसने कहा।

आंचल पकड़ कर कैलाश उसे अपनी ओर खींचता हुआ बोला: "अरे नहीं, ऐसा करोगी तो ग़ज़ब हो जाएगा! सच मानो, इस बार ज़रूर पास हो जाऊँगा। एक मौक़ा और दो।"

"ना, मुझे तुम्हारी बातों पर अब विश्वास नहीं होता। मैं जानती हूँ मेरे यहां रहते तुम कभी पास नहीं हो सकते।"

"तो फिर क्या किया जाय? हिन्दू लॉ इजाज़त नहीं देता वरना तुम्हें तलाक़ दे दिया होता।"

"कुछ दिनों के लिए मैं मायके चली जाती हूँ। तुम्हारा इम्तिहान खत्म हो जाने पर चली आऊँगी।"

"यह अक़लमंद सलाह शायद तुम्हें पिताजी ने दी है?"

"वे क्यों देने लगे? मैं ही कह रही हूँ।"

कैलाश को बात पसन्द न आई। आती भी कैसे? साल भर माया से दूर रहना, उसके लिए अकल्पनीय था। परन्तु माया ने जब उसके गले में बांह डाल कर उसके बालों को सहलाते हुए समझाया कि वह साल भर के लिए नहीं बल्कि सात, आठ महीनों के लिए जा रही है और इम्तिहान खत्म होते ही लौट आएगी, फिर दशहरा, दिवाली, क्रिसमस की छुट्टियों में वह उसे देखने आता रहेगा, तो बड़ी हिम्मत करके कैलाश राज़ी हो गया।

जाने से पहले माया ने कैलाश से वचन ले लिया कि वह बराबर पढ़ता रहेगा। लेकिन जब वह चली गई, तो पढ़ाई और मुहाल हो गई। माया की उपस्थिति में तो वह पढ़ने ही बहुत कम बैठता था। मगर जब भी कभी वह किताब हाथ में लेता—चाहे अल्प समय के ही लिए क्यों न हो—उसकी तीव्र बुद्धि में एक एक अक्षर बराबर उतर जाता था। और अब—जब से उसकी माया मायके चली गई है—तमाम दिन किताबों में वह आंख गड़ाए रहता है, परन्तु समझ में खाक नहीं आता। किताबों के काले काले अक्षर चिउँटियों की तरह क़तार बांधे उसकी नज़र के सामने से निकल जाते हैं। मिनटों गुजर जाते और वह पन्ना न उलट पाता। जब उलटता तो बहुधा पीछे की ओर!

कैलाश-माया के शयनागार को कैलाश का पाठागार बनाने के हेतु वहां लटके हुए रोमांटिक चित्रों को हटा कर पिताजी ने धीरे धीरे उनके स्थान पर शंकरजी, हनुमानजी, गणेशजी आदि देवताओं के चित्र लगा दिए। परन्तु देवता गण भी कैलाश की सहायता करने में असमर्थ रहे। दीवारों पर टँगे टँगे वे ऊँघा करते और कैलाश किताबों के पन्नों में माया का चेहरा देखा करता....

ऊपर के कमरे में रात बड़ी देर तक बिजली जलती देख, एक दिन खुश होकर पिताजी ने मांजी से कहा: "देखा, अब कैसे पढ़ाई हो रही है! कहता न था मैं कि बहू के जाने पर अपने आप ठीक हो जायेगा?"

"कौन जाने पढ़ाई हो रही है या चिट्ठी लिखी जा रही है," मांजी ने कहा; फिर भौं चढ़ा कर बोलीं: "बहू को भेज कर घर सूना करके रख दिया तुमने तो!"

पिताजी जानते थे कि दिल का ग़ुबार निकालने का मांजी मौक़ा ढूंढ़ रही हैं। अगर उन्होंने एक लफ़्ज़ भी मुंह से निकाला तो आज उनकी खैरियत नहीं। अतएव जल्दी से चुरुट सुलगा कर उन्होंने विषय बदल दिया।

दिन गुज़रने लगे। दशहरा आया; फिर दिवाली; फिर क्रिसमस। तीनों छुट्टियों में कैलाश माया से मिल आया। कैलाश के लाख छिपाने पर भी माया ने ताड़ लिया कि पढ़ाई नहीं हो रही है। पिछली बार अपनी क़सम देकर उसने कहा था कि पढ़ने में वह मन लगाये। "अब मैं तब तक तुमसे नहीं मिलूंगी जब तक तुम्हारा नतीजा निकल नहीं जाता—जब तक तुम पास नहीं हो जाते।" कैलाश जानता था माया बात की पक्की है। अगर इस बार वह फिर फ़ेल हो गया तो उसे बिना माया के एक और लम्बा साल काटना होगा। इस विचार मात्र से ही उसका दिल कांप उठा। नहीं, जैसे भी हो, उसे इम्तिहान पास करना ही होगा। माया को पाने के लिए माया को भूलना होगा। विपत्ति की आशंका कर जब कमज़ोर आदमी उसका सामना करने के लिए कमर कसता है, तो सच में, विश्वास नहीं होता कि कभी वह कमज़ोर भी था। उसकी इस अचानक दिलेरी की मुहर उन लोगों तक के दिलों पर लग जाती है, जो अपने को दुनिया के सामने बुलन्द हौसला क़रार दिए बैठे हैं। कैलाश ने पढ़ाई में दिन और रात एक कर दिए।

नाक बन्द करके जिस तरह रोगी एक सांस में अंडी का तेल पी जाता है, उसी तरह कैलाश, अपने भावुक हृदय पर ग़िलाफ़ चढ़ा कर, लॉ फ़ाइनल के सारे पर्चे दे आया। और फिर, जैसा कि निश्चित था, उसे उबकाइयाँ आने लगीं। जी होने लगा कि किताबों पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दे। देवताओं के चित्र अपने शयनागार में उसे खटकने लगे। माया के लिए उसका दिल, रेत पर पड़ी हुई मछली की तरह, तड़पने लगा। लेकिन जब तक कैलाश के पास होने की खबर नहीं मिलती, वह नहीं लौटेगी। कैलाश ने बहुतेरा लिखा परन्तु वह न मानी, और न उसे ही अपने मायके आने की इजाज़त दी। कैलाश मन मसोस कर रह गया। उसे पूरी उम्मीद थी कि वह अबके अवश्य पास हो जायेगा। इस अवस्था में रीज़ल्ट आउट होने तक माया का न लौटना उसे मूर्खतापूर्ण

जान पड़ा। मन ही मन पिताजी पर वह बहुत झुंझलाया। उसे विश्वास था कि माया से उसे बिछड़ाने का षड़यंत्र पिताजी का ही रचा हुआ था। काश उस दिन माया भी यहां मौजूद होती, जिस दिन उसके इम्तिहान का नतीजा निकलेगा—जिस दिन उसकी सफलता का शुभ समाचार मिलेगा! उसकी सफलता का सारा श्रेय जिसको हो, भला क्या उसे ऐसे शुभ अवसर पर अनुपस्थित रहना चाहिये?

कैलाश ने नतीजा निकलने के एक दिन पहले माया को तार देकर ख़बर दी कि वह जल्दी चली आये, उसकी तबीयत ख़राब है। माया ने फ़ौरन जवाब दिया कि वह मेल से रवाना हो रही है। तार देख कर मांजी, पिताजी बहुत हैरान हुए, पूछने लगे कि बात क्या है। कैलाश ने कह दिया, बहू आ रही है। पिताजी तो कुछ न बोले, सिर्फ़ चुरुट सुलगा कर रह गये, परन्तु मांजी ने, मारे ख़ुशी के, सारा घर सर पर उठा लिया। दूसरे दिन बहुत तड़के ही उठ कर कमरों की सफ़ाई आदि शुरू कर दी। सुबह से दुपहर तक कोई बीस मरतबा उन्होंने कैलाश के पास आ कर समय पूछा होगा, जैसे कैलाश के लिए यह सम्भव था कि बहू को लेन स्टेशन जाना वह भूल जाता।

जल्दी जल्दी कपड़े पहन, समय से घण्टा भर पहले ही, बराम्दे में बैठे अख़बार का इन्तज़ार करते हुए पिताजी की आंख बचा कर, कैलाश मोटर लिए स्टेशन को चल पड़ा।

पिताजी सुन्न रह गए जब उन्होंने अख़बार में कैलाश का नाम न पाया। यानी इस साल वह फिर ग़ोता खा गया! इतना पैसा, क़ीमती समय फ़िज़ूल नष्ट हो गया! चुरुट सुलगाने लायक़ सामर्थ्य भी अब पिताजी में न रहा। आराम-कुर्सी पर बैठे, अख़बार के जिस पृष्ठ पर लॉ फ़ाइनल का नतीजा निकला था, वे एकटक घूरने लगे, मानो कैलाश का फ़ेल होना असम्भव है—इसलिए नहीं कि उसने इस साल मेहनत

बहुत की थी, बल्कि इसलिए कि इतनी कथाएँ, इतने अनुष्ठान अकारथ नहीं जाने चाहिए थे।

रंज तो मांजी को भी हुआ। लेकिन बहू के आगमन की मधुर प्रतीक्षा ने उस रंज पर क़लई कर दी। मोटर की आवाज़ सुनते ही वे बराम्दे में दौड़ी आईं....मगर वहां तो मामला ही कुछ और था। मोटर से अकेला कैलाश ही सर लटकाए उतरा, और, लड़खड़ाता हुआ, बराम्दा ड्रॉइंग रूम होता, ऊपर अपने कमरे में जाकर, धड़ाम से पलंग पर गिर पड़ा। किसी भयानक आशंका से मांजी कांप उठीं।

"क्या हुआ, कैलाश ? बहू नहीं आई ?" उन्होंने पूछा।

कैलाश के चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं। "नहीं, मांजी, नहीं आई बहू...." उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा। "गाड़ी उलट गई—"

"कौन सी गाड़ी ?" मांजी ने आंचल का छोर मुट्ठी में ज़ोर से कस कर पूछा !

"मेल—जिससे बहू आ रही थी—रास्ते में—उलट गई !"

मांजी की छाती पर सांप लोट गया। "हाय राम ! मेरा तो घर लुट गया !" वे चीख़ उठीं और सर पीट कर रोने लगीं।

कैलाश, पागल की तरह आंख फाड़े, मांजी की ओर देखने लगा, मानो उनके रोने-पीटने का सबब वह नहीं जानता। क्या उसकी माया सच में—नहीं, ईश्वर ऐसा अन्याय कभी नहीं कर सकता। नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता ! ऐसा नहीं होना चाहिए ! वह उठ बैठा और बेचैनी से कमरे में टहलने लगा। मुमकिन है उसकी माया बच निकली हो। ओह ! लेकिन स्टेशनमास्टर तो कहता था कि सात डब्बे उलटे हैं !....वह फिर पलंग पर बैठ गया। आंखों से आंसू टपक टपक कर उसके कोट के कॉलर को भिगोने लगे। माया को कितना पसन्द था यह कोट ! तभी तो इतना पुराना होने पर भी उसे वह अक्सर पहना करता था। हर तरफ़, कमरे की हर चीज़ में उसे माया दिखाई

देने लगी—वह माया जिसकी आहुति दे कर इम्तिहान में कैलाश सफलता प्राप्त कर रहा है ! हाय री क़िस्मत ! तकिये में मुंह छिपा कर वह रोने लगा ।

रोना-बिलखना सुन पिताजी दौड़े आए । "क्या बात है ?" उन्होंने साश्चर्य पूछा ।

मांजी से न रहा गया । "बहू-बेटे के सुख से ज्यादा तुम्हें इम्तिहान की पड़ी थी ! लो, अब रोओ करनी को अपनी । हाय राम ! कैसी उलटी समझ थी तुम्हारी !" उन्होंने कहा ।

"यह क्या बक रही हो ? क्या हो गया ?" पिताजी ने पूछा ।

मांजी ने रोकर कहा : "मेल गाड़ी उलट गई कहते हैं !"

सहसा कुछ याद कर पिताजी चौंक पड़े । "अरे ! मैं बहू का तार देना तो भूल ही गया था," कहते हुए उन्होंने अपने कुरते की जेब से तार का लिफ़ाफ़ा निकाल कर कैलाश को पकड़ा दिया । "लिखा है गाड़ी चूक गई । कल निकलेगी मेल से । कैलाश की हालत तार से सूचित करने को कहा है ।"

अपने असहनीय दुःख को एकदम निराधार पा, क्षण भर के लिए कैलाश की आंखों के आगे अंधियारी छा गई । ऐसी भद्दी ग़लती कर दुख पहुँचाने के लिए मांजी ने पिताजी को खूब फटकारा ।

"मुझे पता ही नहीं कैलाश कब स्टेशन चला गया," पिताजी ने कहा । "अगर मुझसे मिलता तो मैं तार उसे तभी दे दिया होता ।" फिर अपनी ग़लती पर पर्दा डालने के इरादे से, बात पलट कर, उन्होंने कैलाश को अखबार देते हुए कहा : "आज तुम्हारा रीज़ल्ट आउट हुआ है ।"

"जी, मैंने देख लिया," अखबार बाज़ू में रखते हुए कैलाश ने कहा ।

"मुझे तुमसे यह उम्मीद न थी, कैलाश. . . .यह तुम्हारा तीसरा साल था !" कह कर पिताजी नीचे चले गए ।

कैलाश अवाक् खड़ा देखता रह गया। मांजी ने पास आ कर समझाया कि वह दुखी न हो—जान बची लाखों पाए। अब कैलाश की समझ में असली भेद आया। पिताजी उसका नाम शायद नहीं देख पाए। अख़बार खोल कर उसने मांजी को अपना नाम दिखा दिया। यूनिवर्सिटी में कैलाश पहले दर्जे में अव्वल आया था और उसका नाम अख़बार में सबसे ऊपर होने की वजह से पिताजी उसे नहीं देख पाए थे। उनकी आंखें तो नीचे नीचे ही भटक कर नाउम्मीद हो गई थीं। मांजी ख़ुशी से फूल उठीं। "ज़रा ठहरो," उन्होंने अख़बार छाती से लगाते हुए कहा, "अभी न बताना उन्हें। तार पहले न देकर ख़ूब रुलाया है उन्होंने हमें। अब हमारी बारी है बदला लेने की। जब तक बहू घर में आ नहीं जाती, तुम्हारे पास होने की ख़बर उन्हें नहीं मिल पाएगी।

यह ख़याल कैलाश को बहुत पसन्द आया। बड़ी देर बाद उसकी आंखें हँसने लगीं। रैक में से तार का फ़ार्म निकालकर उसने माया के नाम लिखा :

"अच्छा हूँ। फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट आया। बधाई! तुम्हें लेने मोटर से आ रहा हूँ—कैलाश।"

कुदाली

बोदरा के महाबीर का पुजारी, रामस्वरूप, अपनी छोटी-सी बूढ़ी झोंपड़ी के आंगन में, टूटी हुई खाट पर बैठा, मिट्टी के दिये के प्रकाश में पुराण पढ़ रहा था; और उनकी बेटी तुलसी, मँगरू चौधरी, भोला नाई, चैतू सुनार का भतीजा, भीखू, तथा गांव के पचीस-तीस अन्य लोग अपने छोटे छोटे बच्चों को लिए उसके आसपास भूमि पर बैठे बड़े चाव से सुन रहे थे।

घोघा नदी के किनारे बसे हुए बोदरा गांव के ग़रीब किसान, ज़मींदार ठाकुर भूपसिंह के अत्याचारों से कराह कर, पुजारी रामस्वरूप के सदुपदेशों से अपने ज़ख़्म धोया करते थे। वैसे भी उस दो, ढाई हज़ार की आबादी वाले गांव में जनता के मनोरंजन की कोई भी व्यवस्था न होने के कारण, रामस्वरूप के छोटे-से ऊबड़-खाबड़ आंगन में ही भोजनादि के पश्चात् अपना थोड़ा-सा समय व्यतीत करने का बोदरा निवासियों को एक प्रकार का अभ्यास हो गया था। तबीयत भी बहल जाती थी और सत्संग भी हो जाता था। उनका सारा दिन या तो खेतों पर हल-बैल के साथ गुज़रता या ज़मींदार की बेगार में। राम का नाम लेने का बस उन्हें यही एक समय मिलता था। कभी कभी जब भीखू को लहर आती और वह अपनी ढोलक लिए पुजारी महाराज के आंगन में बैठ कर चौपाई सुनाता तो सारा बोदरा वहां उलट पड़ता। पिछले सावन में एक रात जब उसने आल्हा गाया था तो मूसलाधार पानी बरसने पर भी लोग सारी रात आंगन और गलियों में डटे रहे थे। और तभी लोगों को महसूस हुआ था कि भगवत्-पाठ आदि धार्मिक कार्य में किसी एक स्थान पर एकत्रित होने के लिए उन्हें कोई विशेष व्यवस्था करनी चाहिए।

पंचों की राय में यही ठहरा कि पंडित रामस्वरूप के पीपल के नीचे वाले महाबीर के लिए आपस में चंदा कर एक पक्का मंदिर बनवाया जाय और उसके पास की थोड़ी सी ज़मीन ठाकुर से मांग कर लोगों के बैठने के लिए वहां एक बड़ा-सा चबूतरा भी बना दिया जाय। मगर चंदे का पैसा तो काफ़ी नहीं होगा। और फिर ज़मींदार की अनुमति भी चाहिए ही थी। अतएव मँगरू चौधरी ने हिम्मत की और उनके नेतृत्व में बोदरा निवासियों ने ठाकुर भूपसिंह से जाकर गांव के लिए महाबीर का मंदिर बनवा देने की विनती की।

ठाकुर किसी बात पर जल्दी राज़ी नहीं होते थे। ज़मीन तो वे थोड़ी-बहुत दे भी सकते थे; पर अपनी तिजोरी से—बोदरा के ग़रीब किसानों के खून का पानी कर भरी हुई तिजोरी से; सरकारी अफ़सरों पर बोदरा की बलि चढ़ा कर भरी हुई तिजोरी से; बोदरा की मां-बहनों, बहू-बेटियों की हाय ले ले कर भरी हुई तिजोरी से—बोदरा निवासियों के भगवान का घर बनाने के लिए एक पैसा भी देना उन्हें मंजूर नहीं था ....पर क्या करते? 'धरम का कारज' था—दिखाने के दांत कभी कभी महँगे पड़ते हैं!—और गांव वालों ने एक साथ मिल कर उनकी ड्योढ़ी पर मस्तक रगड़ा था। फिर, महाबीर के एक मन्दिर में पुजारी रामस्वरूप को वे हमेशा के लिए खरीद सकते थे। भीखू तो पुजारी के कहने में था। रामस्वरूप की बेटी तुलसी तक पहुँचने में फिर उन्हें कोई रुकावट नहीं थी। ठाकुर ने महाबीर के लिए मन्दिर बनवा देने का वचन दे दिया।

मगर उस बात को आज छः महीने होते आए और ठाकुर ने मंदिर की सुध ही न ली, क्योंकि रामस्वरूप ने तुलसी को बेचना अस्वीकार कर दिया था।....जब लोगों को असलियत मालूम हुई तो उन्हें मन में ठाकुर पर बड़ा क्रोध आया। भीखू तो आपे से बाहर हो गया था। तुलसी ने उसे राखी बांधी थी। उसने तुलसी को बहन माना था। पीपल

वाले महाबीर पर हाथ रखकर उसने सौगंद खाई कि अगर ठाकुर ने तुलसी को भ्रष्ट किया तो वह उन्हें ज़िदा नहीं छोड़ेगा। भीखू से—चैतू सुनार के भतीजे भीखू से—सारा गांव दबता था। गांव भर में वह बखेड़े खड़े किया करता था। किसी के वह आम चुरा लेता, किसी घर से कंडे छीन लाता, और ख़ास कर ज़मींदार के खलिहानों व चौपालों से अनाज चुराना तो उसका नित्य का कर्म था। मगर उससे कोई कुछ न कहता था। क्योंकि बदले में वह सारे गांव को अपनी बांसुरी तथा डफ से ख़ुश किया करता; अपनी चौपाइयों और गानों से लोगों का वह मनोरंजन किया करता। वह थोड़ी-बहुत वैद्यक भी जानता था। गांव में जब किसी को सांप या बिच्छू काटता तो भीखू की ही तलब होती। और फिर बोदरा की बहुत-सी असहाय स्त्रियों का वही तो एक रक्षक था। इस तरह वह निकम्मा, निठल्ला, मुँहज़ोर, लड़ाकू भीखू बोदरा का अति आवश्यक अंग था। अगर भीखू किसी से घबराता तो ठाकुर भूपसिह से; और अगर ठाकुर भूपसिंह को किसी का भय था तो भीखू का। दोनों एक दूसरे के नाम से कांपते थे।

जब कथा-विसर्जन हुई तो मँगरू चौधरी ने पुजारी रामस्वरूप से कहा:

"महाराज, जान पड़ता है मंदिर कभी नहीं बनेगा। अब की सावन भी तुम्हारे आंगन में भीग कर ही कटेगा!"

"हमारा दुर्भाग्य!" पुजारी ने कहा।

तुलसी का कोमल सुन्दर मुखड़ा उदास हो कर लटक गया। भीखू ने देखा उसकी बड़ी बड़ी आंखों में आंसू छलक रहे थे, जो दिये के लाल प्रकाश में रक्त के बूँद-से जान पड़े।

"परवा नहीं, चौधरी", भीखू बोला। "अपनी मां-बहनों की लाज बेचने से हम मर जाना पसन्द करेंगे।"

"अधीर न हो। महाबीर की इच्छा से मन्दिर भी कभी बन ही जाएगा," पुजारी ने दिलासा दिलाया।

कुदाली

"बन क्यों नहीं जाएगा, महाराज," भोला नाई ने कहा; "अगर हमीं लोग ज़रा हिम्मत करें तो मंदिर के लिए आपस में ही चंदा जुटाना कौन मुश्किल बात है। क्यों चौधरी ?"

मँगरू चौधरी ने सिर हिलाते हुए कहा : "तुम ठीक कहते हो। कल ही से चंदा वसूल करना शुरू कर दिया जाए।"

"और ज़मीन ?" बिसन ने पूछा।

"मेरे घर का आंगन बाबा के आंगन में मिला दिया जाय," भीखू बोला। "हम दोनों की ज़मीन मिला कर काफ़ी जगह हो जाएगी। क्यों बाबा ?"

रामस्वरूप ने अपनी पोथी बांधी। "ठीक है। मुझे कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती," उसने कहा। "यह तो धरम का कारज है। सबको हाथ बटाना ही चाहिए।"

* * *

अपने अस्तबल के सामने खड़े हुए ठाकुर भूपसिंह घोड़े के पैरों में लुहार से नाल ठुकवा रहे थे। उन्हें घोड़ों का ख़ास शौक़ था। उनके अस्तबल में चंद ऐसे घोड़े थे जिन्हें देख कर ज़मींदारी में आते-जाते सरकारी अफ़सरों के मुँह में पानी छूटता था, उनकी नीयत डांवाडोल होने लगती थी। और यह काठियावाड़ी कुम्मैत जो कि उन्होंने पिछले दशहरे में, एक मोटी रक़म देकर, किसी बलूची सौदागर से खरीदा था, इलाक़े भर में अपना सानी नहीं रखता था।

तीन पैरों पर खड़े हुए मोती को अचानक छटपटाते हुए देख कर ठाकुर भांप गए कि कीला सुम के कोमल स्थान पर जा लगा है। फ़ौरन बिगड़ कर बोले :

"अबे, कीला कहां चला जा रहा है ? क्या जानवर को लँगड़ा करेगा ?"

नत्थू लुहार सँभल गया। कीले को सनसी से चट बाहर खींच,

दूसरा ठोकता हुआ बोला :

"नहीं, सरकार, ज़रा अंदर लग गया था। पारसाल हम ही तो नाल लगाया रहा।"

ठाकुर की चढ़ी हुई त्योरी अभी उतर ही रही थी कि उनके ख़ुशामद ख़ोर कारकुन, बिहारी, ने आकर मंदिर का काम शुरू हो जाने की उन्हें ख़बर दी। ठाकुर के तन-बदन में आग-सी लग गई।

"सरकार, यह सब पुजारी रामस्वरूप की कारस्तानी है," काना बिहारी सरकार को ज़रा बाज़ू में ले जाकर बोला। "उसीने आपको नीचा दिखलाने के लिए गांव वालों को उसकाया है। और भीखू की उसको अंदरूनी शह है। वरना बोदरा की क्या ताक़त थी कि अपने ज़मींदार की सहायता के बिना ही मंदिर का काम शुरू कर देता।"

बिहारी के बिना ठाकुर का काम एक मिनट भी नहीं चल सकता था। उनके सात गांव की देखरेख, हिसाब-किताब काने बिहारी के ही ज़िम्मे था। लोगों से लगान का एक एक पैसा किस तरह वसूल करना चाहिए, इसे वह ख़ूब जानता था। बिहारी की मेहरबानी और ठाकुर की बेमुरव्वती से ज़मींदारी में ऐसे लोगों की संख्या कम न थी जो ज़मींदार के चंगुल में फँस कर उजड़ चुके हों। अबके नमकहलाल बिहारी की मेहरबानी भीखू और रामस्वरूप पर होने को कर रही थी। भीखू पर इसलिए कि उसने, कुछ दिन हुए, बिहारी को कुँएँ में फेंक देने की धमकी दी थी और बिहारी का उसके घर के पास से आना-जाना बंद हो गया था। रामस्वरूप पर इसलिए कि उसने अपनी ख़ूबसूरत बेटी तुलसी को ज़मींदार की रंगीन तबीयत का खिलवाड़ बनाना अस्वीकार कर दिया था।

"यह मजाल!" ठाकुर आंखें लाल-पीली करते हुए बोले, "उस पुजारी के बच्चे की इतनी हिम्मत कि मेरी बात काट दे! घर बिकवा दूँगा साले का; समझा क्या है उसने।"

"ज़रा देखिए न, सरकार, चालाक कितना है! धर्म का स्वांग

रच कर सारे गांव का मुखिया बना बैठा है। गांव भर में तो उसकी बेटी आंख लड़ाती फिरती है और जब सरकार की ज़रा तबीयत हुई तो बस सती साध्वी बन बैठी।"

"मन्दिर नहीं बनेगा।" ठाकुर के मन में प्रतिरोध की ज्वाला धधकने लगी। उनके माथे पर उभरी हुई रग फड़कने लगी। "आज ही पुजारी के घर को आग लगा दी जाय। न रहे बांस न बजे बांसुरी। और तुलसी को सही सलामत निकाल कर कोठी पर हाज़िर किया जाय। समझे?"

"ज़रा शान्ति से काम लीजिए, सरकार," बिहारी ने सलाह दी; "गांव वाले कहीं भड़क न उठें। रामस्वरूप पर अपने रुपये निकलते हैं। आप ज़रा देखते रहिए, उसकी तो कमर मैं अभी तोड़े देता हूँ। सरकार की बस आज्ञा भर मुझे चाहिए।"

"तुम्हें पूरी आज्ञा है," सोने के सिगरेटकेस में से एक सिगरेट निकाल कर जलाते हुए ठाकुर ने कहा। "जो चाहो सो करो; मगर जब तक तुलसी न बस में आ जाय, मंदिर न बनने दो।"

"मंदिर नहीं बनेगा सरकार। जब पुजारी का घर और ज़मीन नीलाम होगी वह अपने आप रास्ते पर आ जाएगा, तुलसी को ख़ुद आपके चरनों पर रख जाएगा।"

अपने होंठों के एक छोर से कुछ मुस्कुरा कर ठाकुर ने बिहारी के दिमाग़ की तारीफ़ की।

बिहारी, ख़ुश ख़ुश, बहीखाते पर डोरी लपेटता हुआ, वहां से चला गया।

* * *

रामस्वरूप का उतरा हुआ चेहरा देख कर तुलसी को ताज्जुब हुआ।

"क्यों, बाबा, ऐसे चुप क्यों बैठे हो?" दाल की हांडी चूल्हे पर रखते हुए उसने पूछा। "क्या आज नहाना-धोना नहीं है? देखो तो सूरज कहां चढ़ आया!"

रामस्वरूप धीरे-से उठ कर, धोती और डोल लिए, पीपल के नीचे कुँएँ पर नहाने चला गया।

पिछली रात जब से बिहारी ने रामस्वरूप को दो दिन के अन्दर ज़मींदार का रुपया लौटा देने की धमकी दी है, बेचारा पुजारी चिंता से मरा जा रहा है। दो साल हुए, पत्नी की बीमारी में, उसने ठाकुर के पास से, अपनी ज़मीन तथा बाप-दादा के समय का छोटा-सा, पुराना, टूटा मकान गिरवीं रख कर, पौन सौ रुपये लिए थे। कुछ रुपया तो बीमारी में ही ख़र्च हो गया था; और बाक़ी का बीमार की अंतिम क्रिया में फुँक गया। और तभी से—ईश्वर की लीला!—रामस्वरूप ज़मींदार का क़र्ज़दार हो गया। यद्यपि तब से वह बराबर दो-दो, चार-चार करके रुपया लौटाता रहा है—बिहारी की मेहरबानी—असल रक़म अभी तक ज्यों की त्यों बनी ही हुई है। वह सोच रहा था कि तुलसी का अब के साल ब्याह कर देगा। मोहारा में एक लड़का भी उसने देख रक्खा था। मगर ब्याह के लिए रुपया कहां धरा था? पहली रक़म लौटाये बिना जमींदार से वह और पैसों के लिए नहीं कह सकता था। शायद वह कह भी देता और उसकी मांग भी पूरी हो जाती मगर ज़मींदार तो एक शर्त लिए बैठे थे! ईश्वर ने भी उसे तुलसी जैसी सुन्दर बेटी देकर न जाने किस जन्म के पाप का दण्ड दिया है। ख़ैर जो होना है सो होगा मगर जीतेजी रामस्वरूप अपना धर्म नहीं छोड़ेगा।

कुँएँ का पानी आज बहुत ठंडा लगा। रामस्वरूप से शरीर पर ज़्यादा पानी न डाला गया। आज सहसा उसने अपने आपको बहुत बूढ़ा, बहुत कमज़ोर, बहुत शिथिल पाया। जनेऊ निचोड़ता हुआ वह उठ खड़ा हुआ।

छपरी में बैठी हुई तुलसी महाबीर के लिए चंदन घिस रही थी और भीखू पास ही बैठा पूजा के लिए बेलपाती तोड़ तोड़ कर एक डलिया में रखता जा रहा था। रामस्वरूप को आते हुए देख कर कुछ कहते कहते वह चुप हो गया।

"तुमसे किसने कहा ?" तुलसी ने धीरे से पूछा।

"किसने कहा ? सारे गांव में वह काना बकता फिर रहा है और तुम कहती हो किसने कहा !"

"क्यों, बाबा," तुलसी ने रामस्वरूप से पूछा, "क्या यह सच है ?"

रामस्वरूप अपनी लम्बी सफ़ेद चोटी को धोती के एक छोर से पोंछ रहा था।

"क्या सच है, बेटा ?"

"कि अपना घर और ज़मीन परसों नीलाम होने वाली है ?"

"हां, बेटा।"

"क्यों ?"

"हरि इच्छा !"

"क्यों, बाबा, क्या बात है, बताओ ना ?"

"ठाकुर अपना रुपया वापस चाहते हैं। रात के बिहारी आया था। कल शाम तक रुपया लौटा देने को कह गया है।"

"कितना रुपया लिया था, बाबा, तुमने ?" भीखू ने पूछा।

"पौन सौ।"

"और अब तक वापस कितने दिए हैं ?"

"छत्तीस," तुलसी बोली।

भीखू उँगलियों पर गिनने लगा कि पौन सौ में से छत्तीस गए तो बाक़ी कितने बचते हैं।

"तू नहीं हिसाब कर सकेगा, बेटा; वह बिहारी ही जाने। मुझे पौन सौ पूरे देने हैं।"

"और छत्तीस जो दे चुके हैं ?" तुलसी ने पूछा।

"वह ब्याज में गए।"

"सच मानो, बाबा," भीखू ने दांत पीस कर कहा, "अगर साला वह काना कभी मेरे हाथ लग जाय तो उसकी गर्दन ही मरोड़ूंगा। पचत्तर

रुपये पर छत्तीस रुपये ब्याज ! उसके बाप ने देखा था कभी ! आज रात को फोड़ता हूँ साले का घर--देखी जायगी । बहुत रुपया गाड़ गाड़ रक्खा है पापी ने ।"

"नहीं, भीखू," रामस्वरूप बोला, "ऐसा कभी न करना । घर और ज़मीन छिन जाएगी यही न ? हरि इच्छा ! कब हम साथ ले जाने वाले थे ?"

तुलसी की आंखें भर आईं । मैली सी धोती के फटे आंचल से, बाबा और भीखू की नज़र बचा कर, उसने अपने आंसू पोछने चाहे । बाबा तो धोखा खा गए पर भीखू ने देख लिया । चंदन की कटोरी और बेल-फूल की डलिया लेकर महाबीर की पूजा के लिए बाबा पीपल के नीचे चले गए ।

"तुम मत सोच करो, तुलसी बहन," भीखू ने भरोसा दिलाते हुए कहा; "कल शाम तक रुपये आ जाएँगे ।"

बहती हुई अपनी लाल आंखों से तुलसी ने भीखू की ओर देखा । "कहां से ?" उसने पूछा ।

"तुम्हें इससे मतलब नहीं । मैंने कह दिया आ जाएँगे, बस आ जाएँगे ।"

"नहीं, भीखू । तुम चोरी नहीं करोगे ।"

"पैसा तो लाना ही होगा--चाहे जैसे भी हो ।"

"मैं पेड़ के नीचे रह जाऊँगी, भीखू, पर चोरी के पैसे को हाथ न लगाऊँगी. . . .जी तो करता है कि कुँएँ में कूद पड़ूँ । सब झगड़ा ही मिट जायगा". . . .तुलसी रोने लगी ।

भीखू--चैतू सुनार का भतीजा भीखू--तुलसी को--रामस्वरूप की बेटी और अपनी बहन तुलसी को--रोती देख न सका । उसकी भी आंखों में पानी भर आया ।

"रोओ मत, बहन, तुम्हें मेरी क़सम है," उसने कहा ।

तुलसी के आंसू धीर धीरे थमने लगे।

* * *

दूसरे दिन शाम को उधारी वसूल करने के लिए बिहारी, बहीखाते की रस्सी खोलता-लपेटता, रामस्वरूप के घर आ धमका। बांस के छप्पर के नीचे तुलसी गाय दुह रही थी।

"क्या हो रहा है, तुलसी ?" कुछ खांस कर बिहारी ने पूछा। "महाराज घर पर नहीं हैं मालूम होता है ?"

बिहारी की आवाज़ सुनते ही तुलसी के क्रोध का पारा चढ़ गया। मगर अपने को संभाल कर वह चुप चाप दुहती रही।

"अरी, तू तो बोलती ही नहीं ! हमने कहा तेरे बाबा घर पर हैं ?"

"नहीं हैं," तुलसी ने नज़र हटाए बिना ही रूखे तौर पर उत्तर दिया।

"नहीं हैं ! इस तरह भाग जाने से तो काम नहीं बनेगा। आज शाम तक का अवसर दिया था मैंने। या तो रुपया वापस करो या घर ख़ाली कर दो। समझी ?"

"रुपया मिल जाएगा। जान मत छोड़ो।"

"अच्छा ! तो बंदोबस्त हो गया जान पड़ता है !" नाक के छोर पर उतरा हुआ चश्मा बिहारी ने माथे पर चढ़ाया। "क्यों न हो। जिसकी तेरे जैसी बेटी हो उसके पास पैसे की भला कमी हो सकती है !"

"लाला, ज़रा मुँह संभाल कर बात करो।" तुलसी का चेहरा ग़ुस्से से तमतमा उठा। घुटनों में दबी हुई दूध की हांडी डगमगाने लगी।

"ओ हो ! तू तो ज़रा ही में भड़क गई ! ज़रा बता तो सही किं किसने दिया ?"

इसी समय आंगन का फाटक बजा। भीखू आया जान, तुलसी ने पीछे मुड़ कर देखा। लकड़ी टेकते हुए बाबा आ रहे थे। भीखू के आने में देर होती हुई देख तुलसी का दिल धड़कने लगा। न जाने अभी तक वह क्यों नहीं लौटा। अँगूठी बेच कर शाम तक आने को कह गया था।

रुपये नहीं मिले जान पड़ता है। दूध की धार हांड़ी के बाहर ही गिरी जाने लगी।

"जयरामजी की, महाराज," बिहारी ने अपनी उपस्थिति जतलाते हुए ज़ोर से आवाज़ दी।

रामस्वरूप के घुटनों में दर्द होने लगा। उसकी लकड़ी पर सहसा बोझ ज़्यादा हो पड़ा। "जयरामजी की लाला," उसने टूटी हुई आवाज़ में कहा। "कब आए ?"

"अभी अभी तो आया हूँ। मालूम हुआ तुम बाहर गए हो। तुम्हारा ही इंतज़ार कर रहा था।"

"ज़रा चौधरी के तरफ़ चला गया था," पगड़ी निकाल कर खूँटी से टांगता हुआ रामस्वरूप बोला। "मंदिर के चंदे का पैसा उन्हें सौंप आया हूँ।"

"तुमने भी, महाराज, ठाकुर को फ़िज़ूल ही नाराज़ कर दिया। अरे, एक मंदिर की कौन कहे, दस मंदिर बनवा देते अगर—अगर तुम ज़रा समझ से काम लेते," काने बिहारी ने तुलसी की तरफ़ कनखियों से देख कर कहा।

पुजारी महाराज के घर पर बिहारी को आया हुआ देख, पास-पड़ोस से चार-छः आदमी फाटक पर जमा हो गए।

"ईश्वर अगर तुम्हारी जैसी समझ मुझे देता, लाला, तो यह सब आज काहे को होता," पुजारी ने कहा। "दो-चार दिन ठहर जाओ, घर ख़ाली कर दूँगा।"

"दो-चार दिन ! नहीं, महाराज, मैं एक मिनट भी नहीं ठहर सकता। या तो रुपया वापस करो या घर ख़ाली करो," फिर धीमे से, तुलसी की ओर देख कर : "या—या—"

तुलसी के पैरों से हांडी छूट गई। गाय के कोठे की सारी ज़मीन दूध से नहा गई। नागिन की तरह फुफकार कर वह उठ खड़ी हुई।

'चांडाल को बात करते लाज भी नहीं आती !' उसने मन में कहा; और फिर घर के अन्दर जाकर वह रोने लगी।

पुजारी के आंगन में लोगों की भीड़ बढ़ रही थी। फाटक फिर से बजा। भीखू आ रहा था।

"कम से कम एक दिन तो भी धीरज धरो, लाला। अभी साँझ के समय कहां जाऊँ ? कल ज़रूर घर ख़ाली कर दूँगा," रामस्वरूप ने विनती की।

"क्यों इस कुत्ते की मिन्नत कर रहे हो, बाबा, तुम भी ?" छपरी में प्रवेश करता हुआ भीखू बोला। "लो, डाल दो इसकी छाती पर ये रुपए।" नोटों का एक पुट्ठल उसने बिहारी के मुँह पर दे मारा।

तुलसी लपक कर बाहर आई और अपनी सूजी हुई लाल आंखें लिए दरवाज़े पर खड़ी हो गई।

"ज़रा मुँह संभाल कर बात कर, भीखू। समझा देता हूँ, अच्छा नहो होगा।"

"डराता है क्या बे काने ?" चैतू सुनार के भतीजे की रगों में ख़ून खौलने लगा।

"तुलसी के लिए तो तेरा दिल बड़ा दुखता है रे !" नोट गिनता हुआ बिहारी बोला। "तूने क्या जादू कर दिया है उस पर मेरी समझ में नहीं आता।"

बिहारी के मुँह पर तड़ाक से भीखू का एक तमाचा पड़ा। उसकी टोपी उड़ कर गाय के पैरों में जा गिरी; और उसके गाल पर भीखू की पांचों उँगलियां उमट आईं।

"भीखू !" तुलसी ने चिल्ला कर कहा।

रामस्वरूप ने भीखू का हाथ पकड़ कर अलग खींचा।

"बहुत बकता है साला। पछत्तर रुपये पर छत्तीस रुपये ब्याज !"

हाथ छुड़ा कर भीखू फिर आगे बढ़ा। "चल ले बे, खोल अपना बहीखाता और काट मेरे सामने बाबा का नाम।"

बिहारी थर थर कांप रहा था। क्रोध से नहीं, भय से। बड़ी मुश्किल से दुपट्टा संभाल कर उसने बहीखाता खोला।

भीखू ने झट से, छपरी के कोने में बाबा की पोथियों के पास रखा हुआ बर्रू और कांच की एक शीशी, जिसमें चांवल जला कर बनाई हुई स्याही भरी थी, उठा लाई। बिहारी का चश्मा माथे पर से फिर नाक पर खिसक पड़ा। उसने रामस्वरूप के नाम पर बहीखाते में पछत्तर रुपये जमा कर दिए और बड़बड़ाता हुआ उठ खड़ा हुआ।

आंगन मे खड़े हुए लोग दिल में मना रहे थे कि बिहारी के दूसरे गाल पर भी एक और जड़ जाय।

"फिर बक वक किए जा रहा है! अभी कम हुई क्या रे?" भीखू गरजा।

बिहारी ने गाय के पास पड़ी हुई अपनी टोपी उठाई और उसमें लगा हुआ दूध अपने दुपट्टे से पोंछता हुआ बोला: "अभी जितना चाहे उचक ले, भीखू। अगर ठाकुर से तुझे दुरुस्त न कराया, तो मुझे बिहारी मत कहना।"

भीखू ने आगे बढ़ना चाहा, पर तुलसी ने उसका कुरता पकड़ लिया।

"अबे जा, मुँह काला कर। बहुत देखे ऐसे ठाकुर। एक तमाचे से अभी तसल्ली नही हुई जान पड़ता है। रस्सी जल गई पर बल नहीं गया!"

बड़बड़ाता, चिल्लाता, बहीखाते पर रस्सी लपेटता हुआ, बिहारी फाटक से बाहर हो गया। ज्यों ज्यों वह भीखू से दूर जाता गया, आवाज़ उसकी बढ़ती ही गई।

भोजनादि के बाद, पुजारी के आंगन में, पीपल के नीचे, रोज़ की तरह फिर लोग जुटे। मगर आज भगवत्-पाठ न हो पाया। ज़मींदार

के बढ़ते हुए ज़ुल्मों की ही चर्चा रही। मँगरू चौधरी ने सलाह दी कि मंदिर का काम कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाय। ठाकुर को ज़्यादा नाराज़ करना उचित नहीं। मगर भीखू न माना।

"यह कभी नहीं हो सकता," वह उत्तेजित हो बोला। "मंदिर का काम नहीं रुक सकता। ठाकुर को हम लोग अपने भगवान से ज़्यादा मान नहीं दे सकते।"

लोगों को जोश आ गया। "मंदिर का काम नहीं रुक सकता," उन्होंने एक साथ मिल कर कहा। "बोलो, बजरंगबली की जय।"

बोदरा के पुजारी, रामस्वरूप, का आंगन बोदरा के भगवान की जय से गूँज उठा।

जयजयकार की हलकी-सी झनकार ठाकुर की कोठी में भी पहुँची। ठाकुर भोजन कर रहे थे। उनकी त्योरी चढ़ने लगी।

"यह क्या झगड़ा मोल ले रहे हो?" उनकी स्त्री, राधारानी, ने धीरे से पूछा।

ठाकुर की आदतों और उनके व्यवहार से राधा पीली पड़ गई थी। उसकी विनतियों को ठुकरा कर, उसीकी आंखों के आगे, ठाकुर ने हर तरह के कुकर्म किए थे। जब अपने पति देवता के पैर धोते धोते वह थक गई और देवता ने अपनी पुजारिन की सुध न ली तो अन्त में हार कर अपने पांच वर्ष के इकलौते बेटे कमल में ही शान्ति खोजने की राधा कोशिश करने लगी।

"कौन झगड़ा मोल ले रहा है?—मैं या वह सुनार का बच्चा, भीखू?" ठाकुर ज़ोर से तमक उठे।

पास ही बिल्ली से खेलता हुआ कमल घबरा कर माँ की गोद में जा बैठा और अपने पिता की लाल-पीली आँखें देख कर काँपने लगा। वह जान गया कि पिताजी के क्रोध का बादल फटने वाला है।

"साले की यह हिम्मत कि मेरे कारिंदे पर हाथ उठाए ! खाल खिचवा दूँगा उसकी। समझा क्या है उसने।"

"सुना था बिहारी, पुजारी महाराज का घर क़ुर्क़ करने पहुँचा था ?" राधा ने पूछा।

"क़ुर्क़ नहीं करेगा, छोड़ देगा ? दो साल होते आए, वह पुजारी का बच्चा मेरा पैसा वापस करने का नाम ही नहीं लेता था और उलटा गाँव भर को मेरे खिलाफ़ उसकाता फिरता था।"

"तुम्हारा यह बिहारी ही असल नारद है। जिस महाबीर के आशीर्वाद से हमें बच्चे का मुँह देखना नसीब हुआ उसी के पुजारी की बेटी पर डोरे डालते पाप नहीं लगेगा ?"

"तुम चुप रहो जी," ठाकुर ने डाँट दिया। "बड़ी आई पाप-पुन्य सिखाने। मेरे नाक में नींबू निचोड़ कर, मेरी ही आँखों के सामने, साले गाँव वाले मंदिर बना रहे हैं ! कल ही से देख लेना मैं भी कोई काम शुरू करता हूँ। मंदिर के लिए एक मज़दूर नहीं मिलने दूँगा। सारे गाँव को बेगार में घसीटूँगा।"

बेचारा कमल चुप बैठा हुआ कभी माँ के चेहरे को ताकता था और कभी बाप के।

"तुम्हें मेरी क़सम है," राधा ने समझाने की कोशिश की; "देखो, बात मत बढ़ाओ। धरम का मामला है। भीखू को तो तुम जानते हो कैसा उजड्ड है—मरने मारने को नहीं डरता। कोई सगा-सम्बन्धी जो नहीं है उसका इस दुनिया में।"

"भीखू ? वह भी साला कल मेरी बेगार में होगा।" ठाकुर थाली दूर सरका कर उठ खड़े हुए। "उससे और उस पुजारी से अगर मैंने कुदाली न चलवाई तो मेरा नाम नहीं।"

*   *   *

गाँव में जितने रेज़ा, क़ुली थे सब ज़मींदार की बेगार में पकड़े गए।

कुदाली, फावड़ा ले ले कर उन्हें अमराई वाले तालाब पर तलब किया गया। मई की तेज़ धूप में तालाब सूख चुका था। ज़मीन में चौड़ी-चौड़ी दरारें पड़ गई थीं। गाँव की कुछ भैंसें यहाँ-वहाँ कीचड़ में बैठी करवटें ले रही थीं।....इसी तालाब के बीच ठाकुर का रंगमहल बनेगा। ठाकुर ने आज्ञा दी खुदाई शुरू कर दी जाय। तालाब के पेट में कुदालियाँ पड़ने लगीं।

"मगर, सरकार," नमकहलाल बिहारी बोला, "रेज़ा, कुली ले लेने से मंदिर का काम तो नहीं रुका। वह बदमाश भीखू उन्हें फुसला कर रातरात के मंदिर की दीवारें चढ़ा रहा है। धर्म का काम समझ लोग जी-जान से उसकी मदद कर रहे है।"

ठाकुर के कलेजे में तीर-सा लगा। "क्या मंदिर बन रहा है?" उन्होंने पूछा। "मालूम होता है जब तक उस सुनार के बच्चे की कमर न तोड़ी जायगी वह रास्ते पर नहीं आएगा....अच्छा, बिहारी, देखो, कल से भीखू और रामस्वरूप को भी बेगार में घसीटो। धूप में जब कुदाली चलाएँगे, सालों के होश ठिकाने आ जाएँगे। ज़मींदार से बानी करने का क्या फल होता है उन्हें अभी चखाए देता हूँ।"

"यही मैं भी सोच रहा था, सरकार," काना ज़रा मुस्कुरा कर बोला।" रामस्वरूप और भीखू जहाँ बेगार में खींचे गए कि घर पर तुलसी अकेली पड़ जाएगी।"

दूसरे दिन, बोदरा के भगवान का पुजारी तो बेचारा कंधे पर अँगोछा डालता हुआ ज़मींदार की बेगार में जाने के लिए उठ खड़ा हुआ, पर भीखू सीना तान कर आँगन में खड़ा हो गया।

"चैतू सुनार का भतीजा और ठाकुर की बेगार में!" वह बोला। "असंभव है।" बिहारी और उसके साथ बुलाने आए हुए दो नौकर सहम कर ज़रा पीछे हट गए। "जाओ, कह दो अपने ठाकुर से कि भीखू नहीं आता।"

मँगरू चौधरी, रामस्वरूप और तुलसी ने भी उससे मिन्नत की कि वह चला जाय मगर भीखू न माना।

तब ठाकुर भूपसिंह को खुद आना पड़ा। जोधपुरी ब्रीचेज़ पहने, मोती पर चढ़े, हाथ में चाबुक लिए वे भीखू के आँगन में घुस आए।

भीखू और पुजारी के आँगन के सामने भीड़ लग गई।

"क्यों बे साले सुनार के बच्चे, यह क्या बखेड़ा खड़ा किया है ?" ठाकुर गरज कर बोले। "सीधी तरह चलता है या मार खाएगा ?"

भीखू की आँखों से आग बरसने लगी। "ठाकुर, गाली मत दो," उसने कहा। "मुझसे तुम्हारी बेगार नहीं बनेगी।"

ठाकुर घोड़े से उतर पड़े। "साला मुँह लगता है, इतनी हिम्मत !" उन्होंने कहा; और लगे कोड़े से भीखू को मारने।

भीखू तिलमिला उठा। "ठाकुर—देखो—ठाकुर—कहे देता हूँ—ठाकुर—"

तुलसी के सामने, रामस्वरूप के सामने, पीपल वाले महाबीर के सामने, बोदरा के हर एक व्यक्ति के सामने आज भीखू को ज़मींदार ने कोड़े से पीट दिया—और भीखू से कुछ बन न पड़ा....बोदरा में ठाकुर की धाक फिर से बँध गई।

मार से घायल होकर ज़मीन पर गिरा हुआ भीखू उठा; और धीरे धीरे तालाब की ओर चलने लगा। भीखू के पीछे रामस्वरूप था और रामस्वरूप के पीछे, दो नौकरों को साथ लिए, सोलह कमानी वाला सफ़ेद छाता लगाए हुए बिहारी था।

* * *

बूढ़ा रामस्वरूप पीपल के नीचे बैठा, चिलम पीता हुआ, महाबीर की मूरती को ताक रहा था। 'न जाने भगवान क्यों रूठे हैं,' उसने सोचा। 'जिस दिन से महाबीर का मंदिर बनाने की सोची उस दिन से बराबर

कोई न कोई संकट आता ही रहा है। कहीं भगवान हमारी परीक्षा न ले रहे हों। उनकी भी लीला विचित्र है!'

"बाबा, रसोई तैयार है," तुलसी ने आकर कहा और महाबीर के पास दिया रखने लगी।

बाज़ू में पड़ी हुई लकड़ी का सहारा ले बाबा उठे। दिन भर की धूप और खुदाई ने उनके शरीर को तोड़ दिया था।

"जा, बेटा, भीखू को भी बुला ला। बेचारे पर आज बुरी गुज़री है।"

गाय के पास का फाटक खोल कर तुलसी ने भीखू के आँगन में जाकर देखा, एक खटिया पर पड़ा हुआ वह छटपटा रहा था। सारा दिन धूप में कुदाली चलाने से हाथ, पैर, पीठ अकड़ गई थी; और सुबह की मार से शरीर फूल उठा था।

"भीखू भैया," तुलसी ने डबडबाई हुई आँखों से पुकारा।

भीखू ने आँखें खोल दीं।

"चलो खाने के लिए। बाबा बुला रहे हैं।"

"ना, बहन, भूख बिलकुल नहीं है।"

"थोड़ी-सी सूजी खा लो। मैं यहीं लाए देती हूँ।"

"नहीं तुम मत कष्ट करो। मैं आज नहीं खाऊँगा।"

"नहीं खाने से कैसे काम चलेगा? कल फिर जो बेगार पर जाना है!" घर से बाबा की आवाज़ सुन कर: "देखो, बाबा पुकार रहे हैं—उठो।"

भीखू कराहता हुआ उठ गया और तुलसी के साथ हो लिया।

हर रोज़ की तरह आज भी भोजनादि के बाद, रामस्वरूप के आँगन में, पीपल के नीचे, गाँव के कुछ लोग जमे। मगर ज़्यादा भीड़ न हो पाई। ठाकुर के भय से बहुत-से जन, अपने अपने घरों में ही पड़े हुए, ठाकुर को कोसते रहे। रेज़ा, क़ुली की भी आज रात को मंदिर के काम पर आने

को हिम्मत न हुई। सुबह भीखू के पिट जाने से सारे बोदरा में सनसनी फैली हुई थी।

"जान पड़ता है, महाराज, मंदिर अधूरा ही रहेगा!" मँगरू चौधरी ने एक निश्वास लेकर कहा।

"हरि इच्छा!" रामस्वरूप चिलम में तमाखू भरने लगा।

"कलजुग है, चौधरी, कलजुग! भगवान का नाम लेने की भी मनाई है!" भोला नाई बोला। "अगर मेरा बस चले तो इस गाँव में एक छन भी न रहूँ।"

बाबा की चिलम के लिए तुलसी चिमटे में आग लिए आई।

सहसा कुँए की जगत से टिक कर लेटा हुआ भीखू उठ कर सीधा बैठ गया। "मंदिर बनेगा, चौधरी," वह बोला। "महाबीर का मंदिर बनेगा....पर उस पर बलि चढ़ानी होगी।" भीखू उठ कर खड़ा हो गया और धीरे धीरे, तुलसी की गाय के पास वाले फाटक से होता हुआ, अपने घर चला गया।

उसका मतलब शायद लोगों की समझ में नहीं आया। वे सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। मगर बाबा की चिलम पर आग रखते हुए तुलसी का हाथ काँप उठा।

"जान पड़ता है कोई अनर्थ होने वाला है," रामस्वरूप बोला। "शाम से मेरी बाईं आँख फड़क रही है।"

"सुबह का अनर्थ क्या कम हुआ, महाराज, जो अब और बाक़ी है? चौधरी ने कहा।

"वह तो महाबीर जी ही आड़े आए समझो," भोला नाई कहने लगा, "नहीं तो भीखू खड़ा चीर देता ठाकुर को।"

"ज़रा धीरे बोलो, काका," तुलसी घबरा कर बोली, "यहाँ तो हवा के भी कान हैं!"

*　　　*　　　*

बोदरा के ज़मींदार ठाकुर भूपसिंह के रंगमहल की दीवारें अमराई वाले तालाब के बीच, बड़ी तेज़ी से चढ़ रही थीं। ठाकुर के लिए यह रंगमहल तैयार कर बोदरा निवासी ख़ुद अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारे जा रहे थे। इसी रंगमहल की चार दीवारी के अंदर, बोदरा की अबलाओं की लाज, बोदरा के अन्नदाता के हाथों, बिकने वाली थी।

तालाब के करारे पर, आम के पेड़ के नीचे, कपड़े की आराम-कुर्सी पर बैठे हुए ठाकुर बेगार में लाई हुई चंद औरतों को ताक रहे थे। बाज़ू में खड़ा हुआ बिहारी, हाथ में बर्फ़ के पानी की शीशी लिए, ठाकुर के कान में कुछ कह रहा था। भीखू और रामस्वरूप ने ज़मीन में कुदाली मारते मारते यह सब-कुछ देखा। प्यास के मारे उनका मुंह सूखा जा रहा था। भीखू ने कुदाली रख कर, थोड़ी दूर पर पड़े हुए तूंबे से पीतल के एक लोटे में पानी उँड़ेल रामस्वरूप को दिया।

"क्योंरे, यह ठल्लेबाज़ी क्या कर रहा है ?" ठाकुर ने चिल्ला कर कहा।

पानी पीकर भीखू ने फिर खुदाई शुरू कर दी। आठ दिन की बेगार में ही वह सूख गया था। धूप से बदन काला पड़ गया था। उसकी इस शारीरिक निर्बलता तथा मानसिक पीड़ा का फ़ायदा उठा, काना बिहारी तक अब भीखू पर—चैतू सुनार के भतीजे भीखू पर—हुक्म चलाने की हिम्मत कर बैठता था। और बेचारा रामस्वरूप ! . . . . कुदाली तो वह चला रहा था पर उससे ज़मीन नहीं खुदती थी। हर मार में मश्किल से वह तोले भर मिट्टी निकाल पाता। पास के लोगों को रामस्वरूप की अवस्था देख उस पर बड़ी दया आती थी। "बाम्हन देवता की हाय बुरी होती है," वे लोग आपस में कहा करते। "देखना, ठाकुर का घर उजड़ जायगा।"

भीखू ने देखा, मोती पर चढ़े, ठाकुर जा रहे हैं। उनके पीछे पीछे सोलह कमानी वाला वह सफ़ेद छाता भी जा रहा था। हर रोज़ जब

तक सूरज पश्चिम वाली पहाड़ी के पीछे नहीं जा छिपता था और गाँव के ढोर तालाब के पास वाली कच्ची सड़क पर धूल उड़ाते वापस नहीं लौटते थे, बिहारी लोगों को बेगार से नहीं छोड़ता था और न खुद ही कभी एक मिनट के लिए वहाँ से हटता था। पर आज, नौकरों को निगरानी पर रख, "अभी आता हूँ" कह कर, मोती के पीछे पीछे वह तरफ़ चला जा रहा था।

जब ... और सफेद छाता आम के पेड़ों की आड़ में चले गए तो लोगों ने ... । एक साँस लेकर थोड़ी देर के लिए काम बंद कर दिया। ...या और किसी ने चिलम सुलगाई। सूरज अभी पहाड़ी ... ।

...द—जमींदार के नौकरों के बहुत हाथ पैर जोड़ने पर—जब ... न पर फिर से लगे ही थे कि भोला नाई का मँझला नाती दौड़ता ...ता आकर रामस्वरूप से बोला :

"...दा तुमको जल्ली बुलाते ऐं। थाकुल—थाकुल तुमाले घल में घुछ कल—तुलछी वह ... माल लए ऐं !"

रामस्वरूप के ... ली छूट गई। वह अपना सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया।

"क्या बात है, ... ने पास आकर पूछा।

आस-पास के ल... कर वहाँ जमा हो गए।

...! . . . ...री तुलसी को"—रामस्वरूप के ... न निक...

क्रोधावेश में भीखू ... हो गए। वह इस तरह काँपने लगा जैसे कि आँधी में व... डाली। "बस बहुत हो गया !" उसने दाँत पीस कर कहा। " ... ठाकुर को ज़िंदा नहीं छोड़ूंगा—" और कुदाली लेकर, आँ... तरह, वह गाँव की ओर लपका।

आगे आगे भीखू दौड़ा चला जा रहा था और पीछे पीछे रामस्वरूप तथा दूसरे सब लोग थे।

जब तक भीखू रामस्वरूप के फाटक पर पहुँचा, सारा बोदरा उसके साथ हो लिया था। पीपल से मोती बँधा हुआ था और पास में काना बिहारी खड़ा था जो आती हुई भीड़ देख, बाड़ी फांद कर भाग निकला।

घर के अंदर से कुछ गिरने-पड़ने तथा तुलसी की दबी [illegible]र्यियों की आवाज़ें आ रही थीं।

भीखू कुदाली लिए छपरी के अंदर घुसा। कोठरी [illegible] अंदर से बंद था। उसने कस कर एक लात जमाई और कि[illegible] गिराया। तीर की तरह अंदर लपक कर उसने देखा ठाकुर. . . .भीखू न सँभल सका—न सँभाल सका। उस पर इस समय भूत सवार था। "चांडाल !" उसने जोर से ललकार कर कहा और कुदाली उठा कर खटिया पर दे मारी। ठाकुर का सिर फट गया। उनकी आँखें और जीभ बाहर निकल आई। "भीखू !" तु[illegible]ी के मुँह से चीख़ निकली और वह भीखू के पैरों से लिपट गई। [illegible] कुछ क्षण ठाकुर के प्रेत को आँख फाड़े देखता रहा; और फि[illegible] [illegible] [illegible] की तरह अट्टहास करने लगा।

बोदरा निवासियों का रामस्वरूप [illegible] आँगन में मेला लगा हुआ था।

भीखू ने ठाकुर की रक्त से सनी [illegible] लाश खींच कर बाहर [illegible]ी। "बोलो, बजरंगबली की जय !" उ[illegible] ज़ोर से आवाज़ लगाई।

आँगन में जमा हुए लोगों के दिल धड़कने लगे।

लाश को टाँग पकड़ कर घसीटता हुआ भीखू, पीपल के नीचे, महाबीर के पास जा पहुँचा। "महाबीर को बलि चाहिए थी," उसने कहा और बोदरा के ज़मींदार ठाकुर भूपसिंह का शव बोदरा के भगवान पर चढ़ा कर वह फिर ज़ोर ज़ोर से अट्टहास कर[illegible] लगा। पश्चिम वाली धधकती पहाड़ी पर सिकते हुए सूरज की लाल आभा में, महाबीर के चरणों पर

चढ़ाई हुई बलि बोदरा निवासियों को ख़ूब जँची। "अब महाबीर का मंदिर बन जाएगा! . . . . बाबा—चौधरी—अब मंदिर बन जाएगा!" भीखू बोला। "तुलसी बहन, अब महाबीर का मंदिर बन जाएगा! बोलो, बजरंगबली की जय! बोलो, बजरंगबली की जय—"

और फिर, सब लोगों ने एक साथ मिल कर कहा: "बजरंगबली की जय!"

समाप्त